दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने बलि से (जो ९९ यज्ञ कर चुका था) सवाँ यज्ञ आरम्भ कराया। तब विष्णु ने देवों का कष्ट दूर करने, और इन्द्र-पद के अनधिकारी बलि को छलने के लिए 'वामन' रूप धारण किया।

भेददर्शी शुक्र के बहुत रोकने पर भी बलि ने प्रतिज्ञानुसार वामन जी को तीन पग पृथ्वी दी। नापने के समय भगवान् ऐसे ऊँचे हुए कि दो पग पृथ्वी, आकाश नापकर तीसरे के बदले बलि का शरीर नाप लिया और उसे पातालवास दिया। इसी विषय पर रविवर्मा ने एक चित्र अंकित किया है। उसी पर मेरा बावाँरूपी (अत्यन्त लघु) यह चम्पू भी है।

दई दुर्वासा ने निज सुमन-माला सुरप को;
न धारी सो, डारी अमरपति ऐरावत-गले;
अवज्ञा जानी सो, रिस बस दियो शाप मुनि ने—
तुम्हारो जावेगो विभव सब थोरे दिनन में (१)
सुरापी, संतापी, सुधि करि सुधा की, कुपित ह्वै,
सुरद्रोही, मोही असुर मिलि धाये समर को;
चढ़े उत्साही ह्वै, नृपति बलि को अग्रसर कै;
करी आशा पूरी विजय करि रूरी सुरपुरी (२)
दुखारी ह्वै भागे सुरगन अभागे इत उतै;
विथा चिन्ता भारी सहत बहु दीन्हें दिन बितै;
तबै कीन्हीं दाया हरि सबल-मायाधर कह्यो—
हरूंगो मैं सारी सुरगन तुम्हारी विपति को (३)
उतै सौ संख्या में इक मख कमी शुक्र समुझे;
किनारे रेवा के बलि सँग पधारे विपिन में;
तहाँ ठानी ज्ञानी सुमख मनमानी विधि भली,
बनै जासों भारी सुपद-अधिकारी बलि बली (४)

अदेवन की उर आनि अनीति,
निबाहन को सुर-पालन-रीति,
सुधारन को जनको अधिकार,
धरचो हरि वामन को अवतार (५)
बड़े जनको नहिं माँगन जोग,
फबैं छल-साधन में लघु लोग;
असंग रमापति विष्णु अनूप,
धरचो एहि कारन वामन-रूप (६)
भले सजि साज, चले मख-भूमि;
पगै पग लेति धरातल चूमि;
प्रसून घने बरखें सुर गोत;
दिवाकर तेज निछावर होत (७)
जबै पहुँचे बलि-भूपति-द्वार,
गये सब मोहि रहे मनवार;
कह्यो कोउ चन्द, कह्यो कोउ भान
कोऊ समुझ्यो तप मूरतिमान (८)

(द्वारपाल-वचन, बलि-प्रति)

मृगचर्म विराजत है तनपै,
सिर पै सुठ छत्र सुहावन है।
कर दण्ड कमण्डल सोहैं विशाल,
कुपीन लसै कटि पावन है।
उपवीत पुनीतहु भावत है
अति तेज सों ताप-नसावन है।
द्विज आयो तो आपको जांचन को,
पर नाप में अँगुल बावन है (९)

(बलि-वामन-समागम, भूमिदान की प्रतिज्ञा, शुक्र की विकलता)

शुक्र-वचन बलि प्रति।

धर्म, जस, अर्थ, काम, जन, इन पाँच ही के
हेतु दान होत, यह नीति उर आनिये;
नाहीं सो उचित दान जासों जाय सरबस,
करके बिचार तासों बात मेरी मानिये।
औगुन भरो है यह बटु सो चेताये देहुँ,
याके तनही सों मन याको पहचानिये;
देहै तोहि टोटो यह रखिहै लँगोटो नाहिं,
खोटो है बड़ोई याहि छोटो मत जानिये (१०)
याही ने कपट करि मोहिनी सरूपधरि,
देवन को दीन्हों सुधा, कीन्हीं बड़ी हानिये;
याही ने बराह बलि मारो तो कनक-नैन,
नाहर ह्वै हन्यो तेरे पुरखै सुजानिये।
याको हरि जानौ, सदा देवकाज साधे याने,
कौतुक महान याके कहँ लौ बखानिये;
टोटो यह दैहै तोहि, रखिहै लँगोटो नाहिं,
खोटो है बड़ोई याहि छोटो मत जानिये (११)
दीनता के बैन, पर नैन हैं कुटिलता के,
सैन झूठी साधुता के ऐन पहचानिये;
मन्द मन्द हाँसी है सुधा सी कहिबे को, भूप,
बातन की घातन में बिखही प्रमानिये।

करत उतावली है बावली सभा को करि,
भूलि कै भलाई कत भोलो याहि मानिये;
टोटो यह दैहै तोहिँ, रखिहै लँगोटो नाहिँ,
खोटो है बड़ोई याहि छोटो मत जानिये (१२)

(सत्य-प्रतिज्ञ राजा ने शुक्र की एक न मानी, उसके उत्तर की बानगी लीजिये)

सुख के अभाव को न मानिहौं कछूक दुख,
दुख के प्रभाव को न रंचकहू डरिहौं;
धन अनुरागिहौं न, त्यागिहौं न दानी-धर्म,
पन्थ में अनीति के न भूलि पाँव धरिहौं।
राज अरु संपति की चरचा चलाई कहा,
वचन के आगे प्रान ओर ना निहरिहौं;
याचक की याचना पै हाँ करी सो हाँ करी मैं,
तीनों काल माँहि अब "नाहीं" नाहिँ करिहौं (१३)

(शुक्र की कुछ न चली। पृथ्वी नापने का समय आया तो वामन जी ऐसे बढ़े कि बलि को शुक्र यों ताना देने लगे)

बावन अँगुल को जो हुतो,
सोइ बाढ़ि अकास लग्यो बटु दम्भा;
मानौ तमाल को वृक्ष विशाल,
कियो सुर लोक प्रवेश अरम्भा।
होत है ऊंचो छिनै छिन सो,
सुधि आवत होलिका धूम को खम्भा,
बात गुरून की मानी नहीं,
अब देखु रे भूपति देखु अचम्भा (१४)

(दानवीर बलि ने तीसरे पग में अपनी देह नपवा दी। भगवान् ने उसे पातालवास की आज्ञा दी। इसी पर लोग कहते हैं—)

"मन चेती नहिं होत है, प्रभु चेती सब काल।
बलि चाह्यो आकाश को, हरि पठयो पाताल" (१५)

(बलि की धीरता से संतुष्ट होकर भगवान ने वर माँगने की आज्ञा की। बलि ने यह वर माँग लिया कि आप मुझे नित्यप्रति मेरे द्वार पर दर्शन दिया कीजिये। धन्य बलि!)

बावन ह्वै हरि माँगी धरा,
अरु नापन में तनु भारी कियो है;
द्वै पग में नभ भूमि लई,
तिसरे तेहि नापि पताल दियो है।
द्वार के दर्शन की ठहराय,
भरचो नृप पूरन मोद हियो है;
नाहीं छल्यो बलि को हरि ने,
हरि को बलि ने छलि आज लियो है (१६)
कहो—"भावी इन्द्र की जय।"

१९०७

(३) रम्भा-शुक्र-संवाद

श्रीशुक-रम्भा को भयो विदित शब्द-संग्राम।
ताही की कछु बानगी सुनिये शुभ-मति-धाम॥

रम्भा— १

बीथी बीथी आम की कुञ्ज भावै;
कुञ्जै कुञ्जै कोकिला मत्त गावै।
गाये गाये मानिनी मान जावै;
जातै जातै काम को रंग आवै॥

शुक— २

बीथी बीथी साधु को संग पैये;
संगै संगै कृष्ण की कीर्ति गैये।
गाये गाये एकताई प्रकासै;
एकै एकै सच्चिदानन्द भासै॥

र०— ३

धामै धामै हेम की बेलि डोलै;
बेली बेली पूर्णिमा-चन्द बोलै।
चन्दै चन्दै मीन की मंजु जोरी;
जोरी जोरी मैन क्रीड़ा अथोरी॥

शु०— ४

धामै धामै रत्न-वेदी सुहावैं;
वेदी वेदी भक्त-संवाद भावैं।
बादै हीसों बोध चित्तै प्रकासै;
बोधै पाये शंभु की मूर्त्ति भासै॥

र०— ५

श्यामा कामा सुन्दरी रूपवारी;
गोरी भोरी काम की सी सँवारी।
वाकी बाहैं आपने कंठ डारी;
भेटी नाहीं तो वृथा देह धारी॥

शु०— ६

लक्ष्मी-पी की साँवरी मूर्ति प्यारी,
देवी देवै मोद की देन हारी।
चन्द्राभासी मन्द मुस्क्यानवारी,
ध्याई नाहीं, तौ वृथा देह धारी॥

र०— ७

वसन्त में पाय प्रसून-कुंजैं;
सुगन्ध पै मोहि मलिन्द गुंजैं।
विलास ऐसे थल अङ्गना को,
लहै वही भाग विशाल जाको॥

शु०— ८

प्रसून पीताम्बर माल राजैं,
भृङ्गावली केश रसाल भ्राजैं।
वसन्त में यों हरि मूर्त्ति ध्यावैं,
ते सन्त आनन्द अनन्त पावैं॥

र०— ९

हेमन्त में बाल मयंक ऐसी,
है अंक में तो फिर सीत कैसी।
पिया प्रिया की बतियाँ सुहावैं,
आनन्द-भीनी रतियाँ बितावैं॥

शु०— १०

विहाय जो ध्यान प्रमोदकारी;
खोवै विषै में सब रात भारी।
ता हेतु लीन्हे जमदूत फाँसी,
सचेत होवैं वनिताविलासी॥

र०— ११

सुवर्णवर्णा तरुणी छबीली,
प्रिया रँगीली सुमुखी रसीली।
जो प्रेम ऐसो नहि बाम को है,
तारुण्य तो पै केहि काम को है॥

शु०— १२

होवै जरा में बल-बुद्धि हानी,
मिली तपस्या हित ही जवानी।
उद्योग नाहीं शुभ काम को है,
निकाम तो ये तनु चाम को है॥

र०— १३

कुरङ्ग सी जासु चितौन प्यारी,
सुरङ्ग बिम्बाधर जुग्मवारी।
अनङ्ग कीसी सुकुमार नारी,
न सङ्ग होवै बिन भाग भारी॥

शु०— १४

जाकी लुनाई जग में बसी है,
दसौ दिशा में सुखमा लसी है।
पुनीत पूरी महिमा गँसी है,
बिना भजै ताहि सबै हँसी है॥

र०— १५

सुहासिनी गोल कपोल वारी,
बुलाक,-बाले-नथ लोल वारी॥
सुकामिनी काम किलोल वारी,
मिलै बड़े भाग अमोल नारी॥

शु०— १६

महेश ही को दिन रैन ध्याना,
महेश ही पै मन ये दिवाना।
महेश ही जोग विचार ज्ञाना,
अमोल तो है बस भक्त बाना॥

र०— १७

बारा अलंकार सिँगार सोरा,
बिलोकि जाके मन होय भोरा।
जो, हाय, स्वीकार करै न वाहि,
ताको अरे जन्म गयो वृथाहि॥

शु०— १८

सोरा कला चन्द्र दिनेश बारा,
वारैं गिरा शेष लहैं न पारा।
आनन्द को रूप प्रमोदकारी,
का तासु आगे बनिता बिचारी॥

र०— १९

रूरी पूरी बदन दुति है चन्द्रमा ते सवाई,
नैना सैना, मदन सरमें नाहि सो तीछनाई।
कारे भारे चिकुर जेहि के भृङ्ग के मानहारी
नारी प्यारी नर नहिं रमी तौ वृथा देह-धारी॥

शु०— २०

प्यारे प्यारे जुगुल पद हैं पद्म-शोभा प्रहारी,
सेवैं लेवैं भरिहिय जिन्हैं सिन्धुजा प्राणवारी।
छाई भाई मुनि-गनहिये जासु प्यारी उज्यारी,
सोई, जोई नर नहिं भजै, सो वृथा देहधारी॥

र०— २१

बामा कामाभिरामा शशिवर वदना
शीलधामा ललामा,
कस्तूरी-चर्चिताङ्गी मदन-मद भरी
चञ्चला चारु श्यामा।
बाँकी ऐसी तिया की चितवन चित में
कामनाही जगावै,*
नाहीं सन्देह देही वह जग अपनो
जन्म योंही गँवावै॥

शु०— २२

मज्जा मेदा बसा की अशुच मल भरी
चामकी तुच्छ थैली,
खोटी नौ छिद्र वारी बहुत सनक सी
अस्थि की वस्तु मैली।
लोहू मूत्रादि जासों बहत बहु सदा
स्रोत दुर्गन्धवारे,
सेवैं सीमा घृणा की नर जग नरकी
नीच पापी नकारे॥

२३

रागी त्यागी शब्द-संग्राम कीन्हों
भोगी जोगी वार में चित्त दीन्हों।
हारी नारी जीत पाई जतीने,
बाजे गाजे व्योम में मोद भीने॥

१९०९

-----

*"काम (मदन) नाही जगावै"—यह रम्भा का अभिप्राय है और "कामना (इच्छा, वासना) ही जगावै" इस अर्थ से शुक का पक्ष सिद्ध होता है। रम्भा की वाक्त्रुटि उसके भावी पराजय की अग्र-सूचना है।

❀ ❀ ❀

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

(१) अन्योक्ति (सानुवाद)—हंस

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खल-
त्परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले,
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्ततां।

शुचि सुगन्धित मानस में सदा,
वय गई जिस हंस किशोर की।
मिलित शैवल भेक तड़ाग में,
अब वही किस भाँति अरे! गया?

१९०३

(२) कोकिल

(१)

उडुगण क्षय भी हों; दीखते भी कहीं हों;
गत जब रजनी हो; पूर्व सन्ध्या बनी हो।
मृदुल-मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा;
तब पिक! करती तू शब्द प्रारम्भ तेरा॥

(२)

अति-मधुर-रसीला शब्द तू है सुनाती;
रसिक-जन सभी तू नींद से है जगाती।
मनहरन सुनाके कान-मीठी प्रभाती;
अलसित चितको भी नित्यही तू लुभाती॥

(३)

विहग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे;
विविध विध दिखाते शब्द-चातुर्य सारे।
कलरव-गति सब की भास होती बुरी है;
जब पिक ! दिखलाती शब्द की चातुरी है॥

(४)

सरस-उपवनों में, वाटिका में, सदा ही;
गिरि-सरित-तटों के प्रान्त में, सर्वदा ही।
सुरभित-हरियाली है जहाँ, दीखती तू;
सु-मधुर-मतवाली कूक को कूजती तू॥

(५)

पीती स्वयं है; नहिं तू पिलाती;
प्रमत्त हो हो ध्वनि है सुनाती।
तथापि उन्मत्त अहो ! बनाती ;
बता कहाँ मादक द्रव्य पाती ?

(६)

मिला अहो ! क्या सु-रसाल-डाल से ?
किम्वा किसी गुञ्जित-भृंग माल से ?
न सर्वथा ही इनसे मिला तुझे ;
न दे दिखाई उनमें कभी मुझे॥

(७)

मिला तुझे है ऋतुराज से यह;
अवश्य देता सबको न है वह।
मिलै न तेरी समता उसे कहीं;
मिली प्रिया तू उसको अलम्य ही॥

(८)

वसन्त जाता जब है यहां से;
नहीं किसी को ध्वनि तू सुनाती।
उत्कण्ठ होके सब ढूंढते हैं;
नहीं कहीं भी पर तू दिखाती॥

(९)

प्रिय-विरह-दशा में देह क्या तू छिपाती ?
सु-ललित वह बानी जो नहीं तू सुनाती।
सच कह, वह बातें क्या नहीं याद आतीं ?
"परभृत" अपना तू नाम भी भूल जाती ?

(१०)

वसन्त के आगम में सहर्ष;
मीठे-सुरीले सुर बोलती है।
जहां तहां तू उनको सुना के;
देती बधाई नित डोलती है॥

(११)

अवश्य तू प्रावृट में वही ध्वनि;
अहो ! सुनाती रससे भरी हुई।
प्रफुल्ल देखै वन-कुञ्ज तू सभी;
वसन्त का ही भ्रम हो तुझे तभी॥

(१२)

महा रसीली रस से भरी हुई;
वानी प्रिये ! तू जब बोलती है।
दशा वियोगीजन की सुदुःखदा;
कभी नहीं तू तब सोचती है॥

(१३)

अवश्य है तू अति मञ्जुभाषिनी;
अतः सभी का मन मोहती है।
परन्तु क्या तू निज कृष्ण रूप को;
भला कभी भी कुछ सोचती है ?

(१४)

कवि-जन गुण तेरे नित्य गाते, तथापि
अति परिचय से तू हो न फीकी कदापि।
अब अधिक कहैं क्या ? मान, काफी यही तू;
अनुपम-गुण-वाली भाग्यशाली बड़ी तू॥

१९०४

❀ ❀ ❀

पं० सत्यनारायण, कविरत्न

हेमन्त

(१)

सुन्दर शोभित सुखद शरद हेमन्तहि भेंटी आय,
जिमि बालक विलोकि माताको गिरै गोद में धाय।
जानि परै जमुना जल पैठत पैर गये कटि दूर,
"सीसी" करत किनारे आवैं; जाड़ा है भरिपूर॥

(२)

पहले से नहिं कमल खिलैं अब, निशि में परै तुषार;
स्वच्छ-स्वेत हिमयुक्त-हिमालय दर्शन योग बहार।
सूरज भयो छपाकर जानो, धूप गई पतराय;
मनहुँ शीत भयभीत याहि लखि, वारिद लेत छिपाय॥

(३)

हरित खेतमय गाँवन भीतर, हिमकणभीगी दूब,
मटरफली, अरु कोमलमूली, मीठी लागै खूब।
ज्वार, बाजरा, मूङ्ग, मसीना, मोठ, रमास, गुवार,
सन, तिलआदिक, अरहरतजि, सब कटिआये घर झार॥

(४)

रबी जहां सींची जावै, तहँ गेहूं, जौ, लहराँय;
सरसों सुमन प्रफुल्लित सोहैं, अलिमाला मडराँय।
प्रकृति दूकूल हरा धारणकर, आनन अपना खोल,
हाव भाव मानहुँ बतलावैं, ठाढ़ी करै कलोल॥

(५)

बरहा खोदत श्रमी कृषकवर, जल नहिं कहुँ कढ़िजाय,
खुरपी और फांवरा कर गहि क्यारी काटहिं धाय।
चरसा गहैं "रामआये" कहि, गाय गीत ग्रामीन।
जीवन हेत देत खेतन कहँ जीवन नित्य नवीन॥

(६)

सीर समीर तीर सम लागत, करत करेजे पीर,
दिन छीजत रजनी बाढ़त, जिमि द्रुपद सुता को चीर।
धुआं न चैन लैन छिन देवै, अश्रु बहावैं नैन;
छाती तले अँगीठी सुलगे, ताहि उठावैं पै न॥

(७)

ज्वाला तापि, दुलाई ओढ़ैं, रहैं धूप में जाय,
चाय भरा सुविशाला प्याला पीवैं हिय हरषाय।
साल दुशाला धारैं निशिदिन, गरम मसाला खात,
सीत-कसाला-भाला उर में लगै, न पाला जात॥

(८)

मृग मदादि सौरभ सुखकारक सेवन करैं सुहाय,
भोजन समय कम्प तउ होवै, हाथ जाहिँ ठिठुराय।
पान खाहिं डिबिया भर भरके, तोहू दुख न नसाय,
बाला हिये लगाये बिन कब शीत कसाला जाय?

(९)

जावैं युवक पाठशाला जब, पहन कोट पतलून;
मोजे डाट, बूट खटकावत, शीत लगै तउ दून।
"पेडू" अथवा और "सेगरट" "सेफमैच" से बाल,
यञ्जिन का सा धुआं उड़ावैं, तो भी बुरा हवाल॥

(१०)

जर जर देह, दीनजन दुःखित, कँपकँपात, बिलखात
हाट, बाट अरु घाट घाट पर माँगत, खात लखात।
"अब की कठिन प्राणरक्षा है," कहि कहि के यह बात,
बड़े कसाई, अति दुखदाई, जाड़े से इठि जात॥

(११)

निस्सहाय, निर्बल, इन आरत भारतवासिन ओर,
देशहितैषी, धनी, धार्मिक, फेरौ लोचन-कोर।
हे हेमन्त, हिमाचलबासी! अधिक कष्ट जनि देहु,
विनय सत्यनारायण की यह इतनी तुम सुनि लेहु॥

१९०४

बाबू सत्यशरण रतूड़ी

बुलबुल

प्रभात ही सुन्दर बैन मीठे
सुहावने तू नित बोलती है।
प्रसूनशाली वन - बाग - बीच
सुडालियों में नित डोलती है।।
पड़े पड़े बिस्तर में प्रभात
खुली नहीं है जब आँख मेरी।
सूर्य-प्रभा की प्रथमा दशा में
देती सुनाई तब तान तेरी।।
कभी कभी पुष्पित-आम-डाल पै,
समीप के पीपल पै कभी तू।
कभी कभी दाड़िम के द्रुमों पै;
तू खेलती है वन में सदैव।।
पी पी प्रसूनासव मत्त हो के
तुरन्त ही तू नित नाचती है।
महा सुरीले सुर से पुनः पुनः
बता किसे नित्य पुकारती है?
नये नये तू प्रकृति-प्रभा के
सौन्दर्य्य को नित्य निहारती है।
हटाय उसके मुख से नवाम्बर
मानों उसे आप उघारती है।

उपवन वन में है वास तेरा सदैव;
प्रति दिन तरुओं पै तान मीठी सुनाती।
अति ललित अनोखी, माधुरी-युक्त, प्यारी
सुरपुर-अवनी की तुल्यता तू दिखाती।।
अनुपम-उपमा की भाव-उत्पत्ति द्वारा
कविवर-हृदयों को खूब ही तू लुभाती।
अति सरस, सुरीली बोलियों के बहाने
अविरल-मधु-धारा कान में तू बहाती।।
सुकमल-कलियों को नींद से तू उठा के
विकसित कुमुदाली को सदा तू सुलाती।
थकित शशिकला के नित्य-विश्राम-हेतु
स्वगृह-गमन की है तू विदाई मनाती।।
आई क्या तू, सतनु, उड़के स्वर्ग की वाटिका से
भोगैश्वर्य्य-प्रणय-सुख का त्याग सारा सुवास?
आशा-तृष्णा-रहित मन से शान्त-एकान्त-वृत्ति
से जो तूने विजन वन में ही किया है निवास।
होता आर्कषित मन अहो! गान आनन्दकारी
तेरा प्रातः समय सुनके, मञ्जु-माधुर्य्यधारी।
जारी होता जल नयन से, अङ्ग में स्वेद आता;
है क्या तेरी यह जग-वशीकारिणी शक्ति भारी?

१९०४

❀ ❀ ❀

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

(१) हेमन्त

(१)

हेमन्त में महिष-अश्व-वराह-जाति
होती प्रसन्न अति ही गज-काक-पांति।
पुन्नाग, लोध्र तरु ये नित फूलते हैं;
भौंरे सदैव इन ऊपर झूलते हैं।।

(२)

वियोगिनी वाम महा मलीन;
होतीं दिशायें सब दीप्तिहीन।
अम्भोज सारे बिन पत्र क्षीण;
भुजङ्ग होते बिन वीर्य्य दीन।।

(३)

हुआ हिमाच्छादित सूर्यमण्डल;
समीप सीरी बहती अखण्डल।
प्रियङ्गु के पेड़ प्रफुल्ल हो चले;
हरे हरे अंकुर खेत में भले॥

(४)

आनन्द देती न समीर शीत;
हुए सभी हैं उस से विभीत।
न चाँदनी मञ्जुल है सुहाती;
नदी, नदों की लहरी न भाती॥

(५)

सौभाग्य से जो पति-युक्त बाला;
देता कसाला उनको न पाला।
माला नहीं वे अब धारती हैं;
विश्लेष की भीति विचारती हैं॥

(६)

अच्छे दुशाले सित, पित, काले;
हैं ओढ़ते जो बहु-वित्त-वाले।
तौ भी नहीं बन्द अमन्द सी सी;
हेमन्त में है कँपती बतीसी॥

१९०५

(२) व्यास-स्तवन

१—शुभ सौम्य मूर्त्ति तेजोनिधान
हो अन्य भानु ज्यों भासमान।
ध्यानस्थ स्वस्थ सद्धर्म्म-धाम
भगवान व्यास! तुमको प्रणाम॥

२—तव गुण अनन्त भू-कण समान
है कौन उन्हें सकता बखान?
उपकार याद कर तव अपार
होते बुध विस्मित बार बार॥

३—कर ज्ञान-भानु तुम ने प्रकाश
अज्ञान-निशा कर दी विनाश
कर तव शिक्षामृत-पान शुद्ध
संसार हुआ शिक्षित प्रबुद्ध॥

४—क्या राज नीति, सामान्य नीति,
क्या धर्म्म-कर्म्म, क्या प्रीति-रीति।
क्या भक्ति-भाव, व्यवहार-वेश,
उपदेश दिये तुमने अशेष॥

५—होता है जग में जो सदैव,
जो हुआ और होगा तथैव।
कथनानुसार तव सो समग्र
होता है, होगा, हुआ अग्र॥

६—जो दिखलाया तुमने समक्ष
हैं वही देख सकते सुदक्ष।
तुमने न किया हो जिसे व्यक्त
सब उसे बताने में अशक्त॥

७—है विषय अहो! ऐसा न एक
जिसका न किया तुमने विवेक।
रचनायें कवियों की प्रशस्त
उच्छिष्ट तुम्हारी हैं समस्त॥

८—कर वेदों का तुमने विभाग
रक्षा की उनकी सानुराग॥
वेदान्त-सूत्र रच कर विचित्र
नर को ईश्वरता दी पवित्र॥

९—सुनकर जिनका शुभ सदुपदेश
रह जाता कुछ सुनना न शेष॥
शुचि, शुद्ध सनातन-धर्म-प्राण
सो रचे तुम्हीं ने हैं पुराण॥

१०—बुधजन-समाज जिसका तमाम
है रक्खे पञ्चम वेद नाम।
इतिहास महाभारत पुनीत
सो रचा तुम्हीं ने है प्रतीत॥

११—हो जाता धर्म्म सहाय-हीन
सब पूर्व-कीर्त्ति होती विलीन।
स्वच्छन्द विचरते पाप, ताप,
लेते न जन्म यदि ईश! आप॥

१२—करता शुभ कर्म्म प्रचार कौन?
सिखलाता वेदाचार कौन?
हरता तुम बिन त्रयताप कौन?
दिखलाता पूर्व-प्रताप कौन?

१३—करने को तव सन्मार्ग लुप्त
हैं हुए यत्न बहु प्रकट, गुप्त
वे हुए किन्तु निष्फल, निषिद्ध,
हो क्यों कर सत्य असत्य सिद्ध ?
१४—हिन्दुत्व हिन्दुओं का प्रधान
है अब तक भी जो विद्यमान।
हे जगद्वन्द्य, करुणा-निधान !
हो तुम्हीं एक इसके निदान ।।
१५—जो आर्य्य-जाति का कीर्त्ति-गान
पाता है जग में मुख्य मान।
है उसका जो गौरव महान
सो किया आप ही ने प्रदान ।।
१६—वर्णन करते भी बार बार
रहते हैं तव गुण-गण अपार।
घन चाहे जितना भरें नीर
घटता न किन्तु सागर गभीर ।।
१७—है हमें तुम्हारा अमित गर्व
है तव कृतज्ञ संसार सर्व।
है भारत धन्य अवश्यमेव
तुम हुए जहाँ अवतीर्ण देव !

१९०८

(३) वीररत्न बाजीप्रभु देशपाण्डे

(१)
पन्हाल नामी गढ़ में सचेष्ट
विख्यातकर्मा जब थे शिवाजी।
लेने पिता का बदला उन्हीं से
आया वहाँ फ़ाजल खाँ ससैन्य ।।

(२)
वैरी चढ़े यद्यपि थे हजारों
हुए न तो भी सफल प्रयत्न।
होता रहा युद्ध कई महीने
सुयुक्ति से शक्ति सदैव हारी ।।

(३)
हुई कई बार विशेष हानि
हटे न वैरी फिर भी वहाँ से।
लगे शिवाजी तब सोचने यों—
कैसे चलेगा अब काम ऐसे ।।

(४)
हो मुक्ति जैसे इस आपदा से
सोची उन्होंने तब और युक्ति।
ले वीर बाँके कुछ एक रात—
निःशंक हो वे निकले वहाँ से ।।

(५)
घिरे हुए थे नृप रक्षकों से
उत्साह से थे वह किन्तु आगे।
सुयोग्य सेनापति धीर वीर
थे साथ बाजीप्रभु देशपाण्डे ।।

(६)
क्रोधान्ध होके सहसा उन्होंने
धावा किया सत्वर शत्रुओं पै।
जैसे मृगों के गण में सरोष
क्षुधार्त्त पञ्चानन टूटते हैं ।।

(७)
होके सुकर्तव्यविमूढ़-भीत
मारे गये शीघ्र अनेक वैरी।
विशाल सेनार्णव तैर मानों
लिया इन्होंने पथ राँगना का ।।

(८)
जाता हुआ देख इन्हें सगर्व
पीछा किया तत्क्षण शत्रुओं ने।
निस्तब्धता भङ्ग हुई निशा की
'शिकार भागा पकड़ो, न छोड़ो' ।।

(९)
विषाक्त बातें सुन वैरियों की
जौ लों खड़े हों फिर के शिवाजी।
तत्काल ही जान अनर्थ होता
विनीत बाजीप्रभु ने कहा यों—

(१०)
"हमें यहाँ रोक कटूक्तियों से
हैं चाहते शत्रु अभीष्ट सिद्धि।
करे शठों से शठता सदैव
न नीति भूलो अपनी नरेश !

(११)

"मैं रोकता हूँ सब शत्रुओं को
बढ़ो यहाँ से तुम शीघ्र आगे।
हे तात! मेरा कहना विचारो
रक्षा इसी में अब है हमारी।।"

(१२)

बोले शिवाजी तब हो गम्भीर
"आओ, मरेंगे सब साथ आज।
तुम्हें यहाँ संकट में गिरा के
क्या प्राण-रक्षा अपनी करूँ मैं!"

(१३)

हो व्यग्र बाजीप्रभु शीघ्र बोले
"मेरे लिए सोच करो न आप!
उद्देश रूपी मख में हमारे
अनेक साथी बलिदान होंगे।।

(१४)

"अनेक बाजीप्रभु देश में हैं
है एक ही किन्तु यहाँ शिवाजी।
पूरा हुआ कार्य नहीं अभी है
क्या क्या न जाने करना तुम्हें है।।

(१५)

"मौका नहीं वाद-विवाद का है
हैं आ रहे शत्रु सवेग पीछे।
जाओ दुहाई तुमको शिवा की
हरे! महाराष्ट्र न हो अनाथ"।।

(१६)

निदान ले के तब वीर आधे
बिदा हुए व्याकुल हो शिवाजी।
ससैन्य बाजीप्रभु वैरियों की
रहे प्रतीक्षा करते अदृश्य।

(१७)

ज्यों ही विपक्षी निकले वहाँ से
वे क्रुद्ध हो टूट पड़े सवेग।
होने लगा युद्ध अतीव घोर
सींची गई शोणित से धरित्री।।

(१८)

दो याम बीते लड़ते परन्तु
सके न वैरी बढ़ एक पाद।
हुआ क्षतच्छिन्न शरीर सारा
हटे न बाजीप्रभु किन्तु पीछे।।

(१९)

जो आज प्राणों पर खेल के ये
न रोक लेते सब शत्रुओं को।
या तो शिवाजी बचते न जीते
या हाथ आते निज शत्रुओं के।।

(२०)

आये शिवाजी जब राँगना में
छोड़ी गई पीवर पाँच तोपें।
था क्षेम का सूचक भीमनाद
निश्चिन्त बाजीप्रभु हो गये यों।।

(२१)

फैली मुख-श्री उनकी अपूर्व
किया उन्होंने प्रभु-धन्यवाद।
निर्वाण के पूर्व यथा प्रदीप
वे तेज से पूर्ण हुए विशेष।।

(२२)

की स्वामि-रक्षा मर के जिन्होंने
हैं धन्य बाजीप्रभु देशपांडे।
अहो! महाराष्ट्र लियोनिडास!
है सर्वथा दुर्लभ मृत्यु ऐसी।।

(२३)

थे वीर ऐसे जिनके वरिष्ठ
होते शिवाजी न समर्थ कैसे?
नवीन राष्ट्रस्थिति-योग्य कार्य
भला कहीं हो सकते अकेले?

(२४)

न आज बाजीप्रभु लोक में हैं
तो भी बनी है उनकी सुकीर्ति।
भला कहीं वीर कभी मरे हैं
सोचो, न वार्ता यह बेतुकी है।।

१९१०

(४) सन्देश

मिट्टी में मिला हूँ या उठा हूँ उच्च अम्बर में !
हो गया विशाल,—लघु होकर था आया मैं।
मेरे लाख पत्रों में लिखा है इतिहास मेरा,
धन्य मातृ-मन्दिर के आँगन में छाया मैं।

प्रभु की कृपा से फला, फूला और फैला आज।
तो भी त्यागता हूँ सब लोभ, मोह-माया मैं ॥
फूलें, फलें, फैलें मुझ बीज-सम नित्य सब।
आपमें समावें आप आपमें समाया मैं ॥

(स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि घोष के श्राद्धांक में) १९२८

(५) गांधीजी के प्रति

सन्त महात्मा हो तुम जग के बापू हो हम दीनों के
दलितों के अभीष्ट वरदाता आश्रय हो गतिहीनों के
आर्य अजात शत्रुता की उस परम्परा के स्वतः प्रमाण
सदय बन्धु तुम विरोधियों के निर्दय सुजन अधीनों के।
(संवत् १९९२ वि०)

व्यक्त तुम्हारा बाह्य हमारे वर्तमान का अन्तर्भाग
किन्तु तुम्हारे अन्तरंग में उठा अतीत हमारा जाग।
बापू, व्यग्र भविष्य हमारा मिले तुम्हारा सुमन पराग
भारत माता के मन्दिर में संग्रह रहे तुम्हारा त्याग।
(संवत् १९९३ वि०)

अरे राम ! कैसे हम झेलें अपनी लज्जा, उसका शोक !
गया हमारे ही पापों से अपना राष्ट्रपिता परलोक ! !
(माघ कृष्ण ५, २००४ वि०)
१९४८

(६) विष्णुप्रिया

(श्री चैतन्य महाप्रभु की गृहिणी)

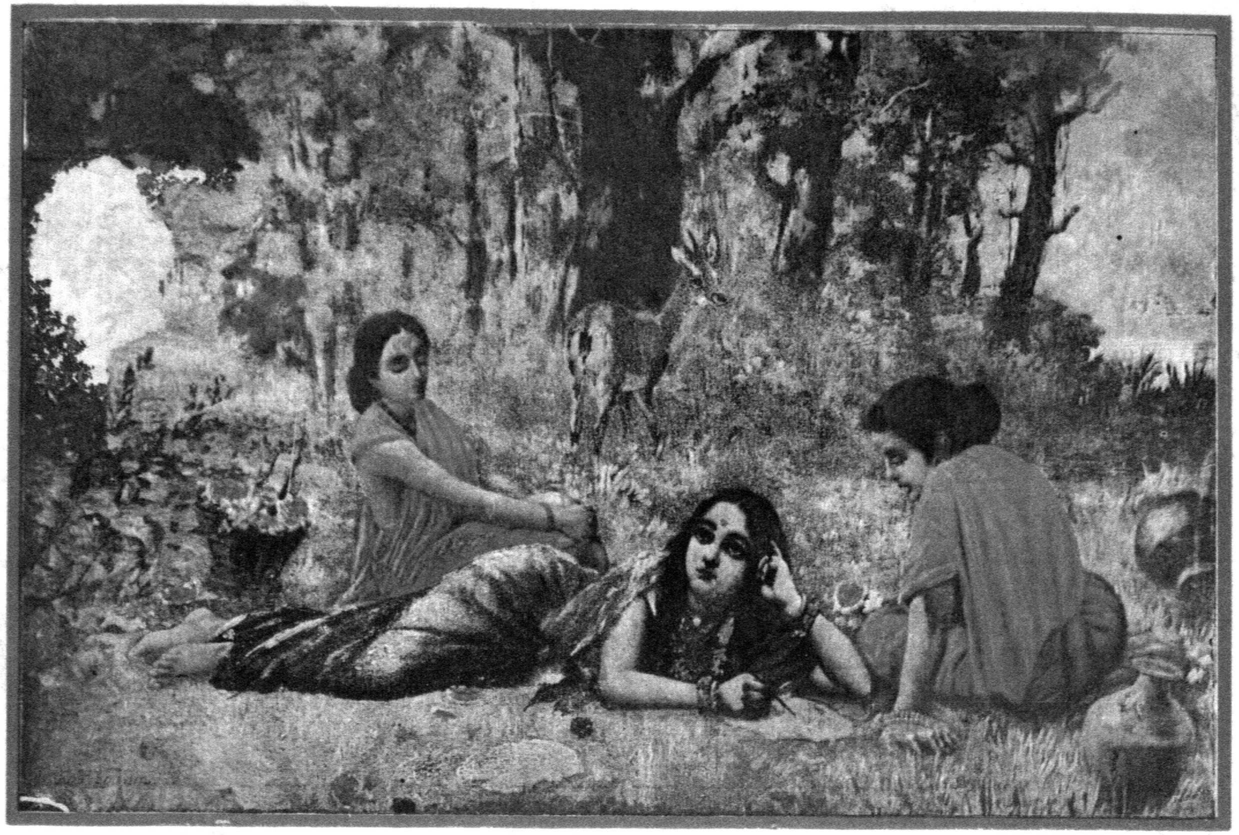
मैं हूँ और अपार है।
डुबा रही मँझधार मुझे अब आत्मभाव ही भार है।
छाया घन तम अंधकार है, बहती विषम बयार है।
सब की सहज सहानुभूति है,—इतना ही आधार है।
व्यथित हो रहा मेरे कारण सारा स्त्री-संसार है,
मुझ पर कृपा, कोप स्वामी पर करता बारंबार है।
कहता है—नारी पर नर का कितना अत्याचार है !
लगता है, विद्रोहमात्र ही अब इसका प्रतिकार है।
माँ-बहिनो ! तुम सबका मेरे साथ सदय व्यवहार है,
किंतु तुम्हारी दया चाहता उनका न्याय-विचार है।
अपनी ही सुधि थी क्या उनको ? छूटा यों घर-बार है,
दोषी है तो वह, जो उनका अपने प्रभु पर प्यार है !
स्वयं गोपिका-बधू-भाव से वर का यह अभिसार है,
इष्ट उन्हें हरिनाम सुना कर जन जन का उद्धार है।
१९५७

(विष्णुप्रिया श्री चैतन्य महाप्रभु की अर्द्धांगिनी थीं। जीवनमुक्त महाप्रभु की पत्नी का गार्हस्थ्य जीवन कैसा हो सकता है, इसकी कल्पना कठिन नहीं है। इसलिए स्वाभाविक था कि लोग उनके साथ सहानुभूति प्रकट करते और महाप्रभु को 'निखट्टू' घोषित करते। किन्तु विष्णुप्रिया अपने पति के महत्त्व से परिचित और विशाल-हृदया देवी थीं। श्री गुप्त जी ने हाल ही में विष्णुप्रिया पर एक छोटा सा काव्य लिखा है।)

❀ ❀ ❀



महात्मा ईसा के शव की रक्षा में ईसा की माता और देवदूत



शकुन्तला-पत्र-लेखन
(चित्रकार—राजा रवि वर्मा)

[१६०८

पं० रामचन्द्र शुक्ल

शिशिर-पथिक

(एक पथिक स्वदेश को लौट रहा है। इसने थोड़ी ही उम्र में सेना के अफसर, एक मेजर, के कहने में आकर अपना देश छोड़ा; घर में किसी से कहा भी नहीं। तब से निरंतर अङ्गरेजी सेना के साथ-साथ वह एक देश से दूसरे देश में भ्रमण करता रहा। उसकी नवागता वधू बहुत दिनों तक उसके आसरे में रही; अन्त में निराश होकर अपने पिता के घर आकर वह रहने लगी। वहाँ पर उसने अपने वृद्ध पिता की सेवा तथा पथिकों के सत्कार का व्रत लिया। दैव-संयोग से आज स्वयं उसका पति ही पथिक के रूप में उसके सामने आकर उपस्थित हुआ है।)

(१)

विकल, पीड़ित पीय पयान ते
चहुँ रह्यो नलिनी-दल घेरि जो,
भुजन भेंटि तिन्हैं अनुराग सों
गमन-उद्यत भानु लखात हैं।

(२)

तजि तुरन्त चले, मुख फेरि के,
शिशिर-शीत-सशंकित जीव हीँ;
विहग आरत बैन पुकारते
रहि गये, पर ताहि सुनी नहीं।

(३)

तनि गये सित ओस-वितान हू,
अनिल झार बहार धरा परी,
लुकन लोग लगे घर बीच हैं
विवर भीतर कीट पतङ्ग से।

(४)

युग भुजा उर बीच समेटि कै
लखहु आवत गैयन फेरि ये
कँपत कम्बल-बीच अहीर हू
भरमि भूलि गई सब तान है।

(५)

तम भयंकर कारिख फेरि कै
प्रकृति दृश्य कियो धुँधलो सबै;
बनि गये अब शीत-प्रताप ते
निपट निर्जन घाटऽरु बाट हू।

(६)

पर चलो यह आवत है, लखो,
विकट कौन हठी हठ ठानि कै?
चुप रहैं, तब लौं जब लौं कोऊ
सुजन पूछनहार मिलै नहीँ।

(७)

शिथिल गात, महा गति मन्द है
चहुँ निहारत धाम विराम को;
उठत धूम लख्यौ कछु दूर पै,
करत श्वान जहाँ रव घोर हैं।

(८)

कँपत आइ भयो छिन में खड़ो
युग कपाट लगे इक द्वार पैं;
सुनि पर्‌यो "तुम कौन!" कह्यौ तबै,
"पथिक दीन दया इक चाहतौ"।

(९)

खुलि गये झट द्वार धड़ाक से
धुनि परी मधुरी यह कान में,
"निकसि आइ बसौ यहि गेह में
पथिक वेगि सकोच बिहाइ कै।"

(१०)

पग धर्‌यौ तब भीतर भौन के
अतिथि आवन आयसु पाइ कै,
कठिन-शीतज - ताप-विघातिनी
अनल दीर्घ-शिखा जहँ फेंकती।

(११)

चपल दीठि चहूँ दिसि जाइ के
पथिक की पहुँची इक कोन में;
वय - पराजित जीवन - जंग में
दिन गिनै नर एक परो जहाँ।

(१२)
सिर-समीप सुता मन मारि कै
पितहिं सेवति सील सनेह सों
तहँ खड़ी नत गात कृशाङ्गिनी
लसति वारि-विहीन मृणाल सी।

(१३)
लखि फिरी दिसि आवनहार के
विमल आसन इंगित सों दयो;
अतिथि बैठि असीस दयो तबै
"फलवती सिगरी तुव आस हो"।

(१४)
मृदु हँसी, करुणा-रस-संगिनी
तरुनि आनन ऊपर धारि के
कहति "हाय पथी! सुनु बावरे,
न तरु नीरस में फल लागई।

(१५)
"गति लखी विधि की जब वाम मैं
जगत के सुख सों मुख मोरिकै,
पितृ-निदेश निवाहन, औ सदा
अतिथि-सेवन को व्रत मैं लयो।

(१६)
"अब कहो निज नाम, चले कहां?
कहहु आवत हौ कित तें, इतै?
विचलि कै चित के किहि वेग सों
पग धरयौ पथ तीर अधीर ह्वै?

(१७)
"अखिल-आस-अमी रस सींचि के
सतत राखति जो तन-बेलि हीं,
पथिक! बैठि अरे तुव बाट को
युवति जोवति है कतहूँ कोऊ?

(१८)
"नयन कोउ निरन्तर धावहीं
तुमहि हेरन को पथ बीच में?
श्रवण-बाट कोऊ रहते खुले
कहूँ, अरे, तुव आहट लेन को?

(१९)
"कहु कहूँ तोहिं आवत जानि कै,
निकटता तुव प्रेम-प्रदायिनी
प्रथम पावन कारण होत है
चरन*-लोचन - बीच बदाबदी?

(२०)
"करि दया, भ्रम जो सुख देत है
सुमन-मञ्जुल - जाल बिछाइ कै
कठिन, काल, निरंकुश निर्द्दयी
छिनहिं छीनत ताहि निवारि कै?"

(२१)
दबि गयो उन बैननि-भार सों
पथिक दीन, मलीन, थको भयो;
अचल मूर्त्ति बन्यौ, पल एक लौं
सब क्रिया तन की मन की रुकी।

(२२)
बदन पौरुष-हीन विलोकि के
नयन नीरन उत्तर दै दयो--
तव यथार्थ सबै अनुमान है
अति अलौकिक देवि दयामयी!"

(२३)
अचल नैननि सो सुनिहारते
पथिक को अपनी दिसि देखि के,
इमि लगी कहने फिरि कामिनी
अति पवित्र दया-व्रत-धारिणी।

(२४)
"कुशलता न अहै यहि में कछू,
अरु न बिस्मय की कछु बात है;
दिवस† जो दुख की दिसि खेवही
गति लखैं मग में उलटी सबै।"

---

*पहले निकट पहुँचने के लिए आँख और पैर के बीच बाजी लगती है; अर्थात् आँख के स्थान विशेष पर पहुँचने के पहले ही पैर पड़ जाता है जो कि मनुष्य के गिरने का कारण होता है। अतएव यहां लटपटाती हुई चाल से अभिप्राय है। रा० शु०

†जो संसारसागर में अपने दिनों को दुःख की ओर खे रहे हैं, वे मार्ग में दूसरी वस्तुओं को (जैसे नौका पर चढ़ के चलते समय देख पड़ता है) दूसरी

(२५)

उभय मौन रहे कछु काल लौं;
पथिक ऊपर दीठि उठाइ कै
इक उसास भरी गहरी जबै
यह कढ़ी मुख ते वचनावली--

(२६)

"अवनि - ऊपर देश - विदेश में
दिवस घूमत ही सिगरे गये;
मिसिर, काबुल, चीन, हिरात की
चरण धूरि रही लिपटाइ है॥

(२७)

पर-दशा-दिशि - मानस - योगिनी
लखि परी इकली भुव बीच तू।
यह विशेष विचारि सुनावहूँ
सुतनु! मो तनु पै जु व्यथा परी।

(२८)

"मन परै दुख की जब वा घरी
पलटि जीवन जो जग में दयो
चतुर "मेजर" के वश ह्वै, अहो
जब कियो अपने सुख-नाश मैं।

(२९)

"हित-सनेह-सने मृदु बोल सों
जब लियो इन कानन फेरि मैं।
स्वजन और स्वदेश-स्वरूप को
करि दयो इन आँखिन ओट हा!

ओर (उलटे') अर्थात् सुख की ओर जाती हुई देखते हैं। तात्पर्य्य यह कि जो लोग संसार में दुःख भोग रहे हैं, वे समझते हैं कि उनको छोड़ कर और सब लोग सुख पा रहे हैं। यह मनुष्य का स्वभाव है। स्त्री का पति विदेश से नहीं फिरा, इस से वह पथिक को समझाती है कि अपनी प्रिया ही से मिलने वह जा रहा है।

रा० शु०

(३०)

अब परैं सुनि वाक्य यही हमैं
"धरहु, मारहु, सीस उतारहू'
दिवस रैन रहै सिर पै खरी
अति कराल छुरी अफगान की।

(३१)

"पथिक हो, यह आस हिये धरे,
मम वियोगिनि भामिन को अजौं
अपर-लोक-पयान प्रयास ते
मम-समागम-संशय रोकि है।

(३२)

"कहूँ यहीं इक मन्मथ गांव है
जहँ घनी बसती विधु - वंश की
तहँ रहे इक विक्रमसिंह जो
सुवन तासु यही रनवीर है।"

(३३)

कहत ही इन बैनन के तहाँ
मचि गयो कछु औरहि रंग ही;
वदन अञ्चल-बीच छिपावती
वह परी गिरि भूतल भामिनी

(३४)

असम साहस वृद्ध कियो तबै,
उठि धर्‌यो महि में पग खाट तें;
"पुनि कहो" कहि बारहि बार ही
पथिक को फिरि फेरि निहारई।

(३५)

आशा त्यागी बहु दिनन की नेकु ही में पुरावै
लीला ऐसी जगत प्रभु की, भेद को कौन पावै?
देखो, नारी सुकृत-फल को बीच ही माँहि पायो;
भूलो प्यारो, निज-प्रियतमा-पास आयो सुहायो।

१९०५

❀ ❀ ❀

पं० नाथूराम 'शङ्कर' शर्म्मा

(१) समालोचक-लक्षण

जिनके द्वारा शंकर संसार न होगा।
जिनके द्वारा सद्धर्म-प्रचार न होगा॥
जिनके द्वारा लौकिक-व्यवहार न होगा।
जिनके द्वारा परलोक-सुधार न होगा॥
ऐसे ग्रन्थों पर जिसे रोष आता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है॥

जो पक्षपात पामर को मार भगावे।
अन्याय-असुर के उर में आग लगावे॥
झूंठी सहृदयता के गढ़ गीत न गावे।
मनमन्दिर में समता की ज्योति जगावे॥
उस न्याय निरंकुश को जो अपनाता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है॥

सब यंत्र कलाकौशल के काम सँभालो।
नूतन आविष्कारों के नाम निकालो॥
कृषि-विद्या और रसायन में रस डालो।
कोरी कहानियों के कलबूत न ढालो॥
जो इस प्रकार उन्नति की मूल जमाता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है॥

हम राजभक्त उन्नति की गैल गहेंगे।
कर देशी-वस्तु-प्रचार प्रसन्न रहेंगे॥
फटकार मार आघात अनेक सहेंगे।
पर बार बार "वन्देमातरम्" कहेंगे॥
ऐसे प्रण को जो घर घर पहुँचाता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है॥

व्याकरण-केहरी से न कभी डरती है।
पिंगल काटे सौ बार नहीं मरती है॥
साहित्य-मत्त-गज के मग में चरती है।
तुकियों के उर-वन में विहार करती है॥
उस कविता-कुत्ती को जो धमकाता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है॥

कुछ काट छाँट कर आशय इधर उधर के।
छल का बल पाय छपाये पोथा घर के॥
व्यवसाय-सखा शुभचिन्तक भारत भर के।
बन बैठे ग्राह महाविद्या-सागर के॥
ऐसे घटियों को जो ठग बतलाता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है॥

आपस में लड़ते हैं नाना मत-वाले।
अपने अपने अनुकूल ग्रन्थ गढ़ डाले॥
अब करते हैं पत्रों के कालम काले।
पढ़ देखो सबके लेख प्रसंग निराले॥
इस कलकल को जो निष्फल बतलाता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है॥

भोजन को माँगें राज भोग की भिक्षा।
पीते रहते हैं दूध और आमिक्षा॥
ये क्या जाने कहते हैं किसे तितिक्षा।
देते फिरते हैं तत्वमसी की शिक्षा॥
इनके गन्धर्व-नगर को जो ढाता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है॥

उपदेशक दल के लुंड मुंड लीडर हैं।
जातीय-सभा के सभ्य महा मिस्टर हैं।
देशी सुधार के सर सर प्रोफेसर हैं।
सब हैं परन्तु कोरी घेंघें के घर हैं॥
इनकी ध्वनि सुन जिसका जी मचलाता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है॥

जिस आगम का आशय न समझ में आवे।
उस पै न वृथा अटकल की लाग लगावे॥
जब अर्थ भाव मन में समस्त भर जावे।
तब जैसा हो वैसा लिख लेख बतावे॥
सब तंत्रों का मर्म भाव जिसको आता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है॥

१९०६

(२) सरस्वती की महावीरता

शंकर विहार करे ज्ञानागार कानन में
शुद्ध मन हंस पै निशंक चढ़ती रहै।
फेर फेर दिव्यगुणमालिका प्रवीणता की
पुस्तक पै चातुरी के पाठ पढ़ती रहै॥
बार बार बाजें बोध वीणा के विचार तार
अज्झल् बलित वाणी ध्वनि कढ़ती रहै।
इन्दुमुखी अबला सी सबला सरस्वती में
मेधा महावीरता की बेलि बढ़ती रहै॥१॥

सुन्दर विशाल भाल मन्दिर में बैठ कर
शंकर विशुद्ध ज्ञानदीपक जगाती है।
दोष के दुरानन पै चेतना प्रचण्ड शिखा
उगल उगल मसि मोह की लगाती है॥
संवित् प्रकाशराशि न्यायकर मार मार
अधम अबोध अन्धकार को भगाती है।
मंगल की मूल महावीरता सरस्वती की
जीव को सुधार सुख रस में पगाती है॥२॥

प्यारी प्रतिभा की गति प्याली भर भर कर
लोकरचना का रस पान करती रहै।
भूलै न प्रमाण को न त्यागै तर्कसाधन को
खोज खोज ज्ञान गुणगान करती रहै॥
सामयिक युक्तिवाद-पटुता का मान करै
मन्दमूढ़ता का अपमान करती रहै।
शंकर उदार महावीरता सरस्वती की
आदर अनादर का दान करती रहै॥३॥

प्रामादिक पक्षपात पापी के न पास रहै
सत्य को असत्य से अशुद्ध करती नहीं।
औपाधिक धारणा से दम्भ को न दूर करै
स्वाभाविक भावना में भूल भरती नहीं॥
न्याय की कठोर काट छाँट को न पोच कहै
कोरी काँय काँय पर कान धरती नहीं।
शंकर अनूठी महावीरता सरस्वती की
इन्दिरा की इन्द्रजालियों से डरती नहीं॥४॥

शंकर कुमतपन्थ-तारों की दुराशा-दुति
धर्म्मतत्ववाद-तेजपुञ्ज में बिलाती है
ध्यान धारणादि योग साधन सरोवर में
सामाधिक संयम सरोरुह खिलाती है॥
विद्याबल-वासर में आवै ना अविद्या-निशि
सिद्धि-चकई को सिद्ध-चक से मिलाती है।
ब्रह्मरविरूपा महावीरता सरस्वती की
ऊँचे अधिकारियों को अमृत पिलाती है॥५॥

गोतम, कणाद, मनु, कपिल, पतंजलि जी,
व्यासदेव, जैमिनि के ध्यान में धसी रही।
रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, बुद्धदेवजी में रही
शंकर के शुद्ध ब्रह्मवाद में बसी रही॥
साधुभाषाभाषी हरिकिंकर कबीरजी की
ज्ञान-गरिमा के गास गास में गसी रही।
मुक्ति-महिमा सी महावीरता सरस्वती की
स्वामी दयानन्दजी के लक्ष्य में लसी रही॥६॥

मान-दान मम्मट को माघ को महत्त्व-दान
दान कालिदास को सुयश का दिला चुकी।
रामरस तुलसी को काव्यरस केशव को
श्यामाश्याम-नामरस सूर को पिला चुकी॥
नागरी उजागरी की उन्नति का मान-पान
भारत के इन्दु हरिचन्द को खिला चुकी।
ऐसे कवियों में महावीरता सरस्वती की
शंकर से दीन मतिहीन को मिला चुकी॥७॥

साहसी सुजान को सुपन्थ दरसाती रहै
कायर कुचालियों की गैल गहती नहीं।
भिक्षुक विचारशील साधु को सपूत कहै
पापी धनवान को प्रतापी कहती नहीं॥
उद्यमी उदार के सुकर्म का प्रकाश करै
आलसी बलिष्ठ की बड़ाई सहती नहीं।
शंकर निशंक महावीरता सरस्वती की
कोरे बकवादियों के पास रहती नहीं॥८॥

प्यारे पण्डितों की प्यारी पण्डा पै प्रसन्न रहै
मानी मूढ़ मण्डल पै रोष करती रहै।
लेखक महाशयों की लेखनी को चूम चूम
देवनागरी का पूरा कोश करती रहै।।
सत्य समालोचना के द्वारा पक्षपात छोड़
सबके प्रकट गुण दोष करती रहै।
ग्रन्थमालिका से महावीरता सरस्वती की
शंकर पढ़ों का परितोष करती रहै।।९।।

नूतन निबन्ध मनभावते विचित्र चित्र
नाना विषयों से वर वानिक बनाती है।
शंकर प्रतापशील सज्जन महोदयों के
जीवन-चरित्र जन जन को जनाती है।।
हिन्दी को सुधार गद्य पद्य का प्रचार करै
रूठी व्रज-भाषा को भी सादर मनाती है।
ज्ञानी ग्राहकों से महावीरता सरस्वती की
लेख अलबेले अंक अंक में गिनाती है।।१०।।

विद्याबलहीन सुख सूने सूम सम्पति को
छोड़ छोड़ भागे साथ कुछ भी न ले गये।
लालची लबार लंठ पातकी प्रमादी पोच
कालकी कुटिल चाल चक्की में दले गये।।
शंकर असंख्य हठवादी अभिमानी मूढ़
मोह-छलिया के छलबल से छले गये।
मिली जिनको न महावीरता सरस्वती की
जीवन बिताय वृथा वे नर चले गये।।११।।

जूझें शब्द-संगर में वैयाकरणों के झुंड
हारे कविकोविद न सम्पादक जीते हैं।
प्रेमामृत बूंद भी रहा न शील-सागर में
हा न वैरवारि से घमंड घट रीते हैं।।
शंकर से तुकियों की भद्दी रचना का रस
नामी नामी नागरी के नागर न पीते हैं।
मेल में मिलेगी महावीरता सरस्वती की
हायन हमारे संग सातही तो बीते हैं।।१२।।

१९०७

(३) "वसन्तसेना"-विलास

लैला के शुतर का न जरस बजेगा यहाँ
खाक न उड़ेगी कहीं मजनूं के वन की।
शीरीं के कलाम की भी तलखी चखोगे नहीं
टाँकी न पहाड़ पै चलेगी कोहकन की।।
काम-कन्दला के नाच गाने की लताफत में
गाँठ न खुलेगी माधवानल के मन की।
कंचन की चाह छोड़ कंचनी अकिंचन को
शंकर दिखावेगी लगावट लगन की।।१।।

विक्रम के आगे की नायिका नवेली यह
शूद्रक-रचित मृच्छकटिक में पाई है।
स्वामिनि मदनिका की, भामिनि रदनिका की,
धूता की सवति, वारवनिता की जाई है।।

मोंसी रोहसेन की है नाम है, "वसन्त-सेना",
चारुदत्त जी की प्राणवल्लभा कहाई है।
राजा रविवरमा की चित्र-चातुरी ने आज
शंकर सरस्वती के अंक में दिखाई है।।२।।

चित्र की विचित्रता में अंगों की गठन पर
रसिक सुजान भरपूर ध्यान दीजिये।
कोमल-कलेवरा की सुन्दर सजावट के
रंग ढंग देखिये, प्रसंगरस पीजिये।।
जैसी सुन पाई ठीक वैसी ही बनाई उस
चतुर चितेरे की बड़ाई बड़ी कीजिये।
मिसरी के साथ बाँस फाँस का सा मेल मान
शंकर की भद्दी कविता भी पढ़ लीजिये।।३।।

पूरण सुधाकर के अंक में कलंक बसे
खारी जलकोश रतनाकर ने पाया है।
भानु भगवान काले धब्बों से धबीले रहैं
स्वामी श्यामसुन्दर के संग योग-माया है।।

१—कोहकन = फरहाद। २—शूद्रक = मृच्छकटिक नाटक का रचयिता। मदनिका = वसन्तसेना की दासी। रदनिका = चारुदत्त की दासी। धूता = चारुदत्त की स्त्री। रोहसेन = चारुदत्त का पुत्र। वसन्तसेना = एक वारवनिता की बेटी। चारुदत्त वसन्तसेना का एक अकिंचन मित्र।

सुन्दरी वसन्तसेना बाई का विशुद्ध मन
पालक महीपति के साले का सताया है।
शंकर की रचना में ठीक इसी भाँति हाय
भद्दापन दूषण बनारसी समाया है।।४।।

ज्वारी को छुड़ाय कर, चोर का बसाया घर,
दूत की दया से मणिमाला मिली यार की।
काम की सताई, आई पीतम न पाई बाई,
नथुनी उतार ली बढ़ाई बेलि प्यार की।
प्रेमरस पीती रही, मार सही जीती रही,
शंकर जला दी जड़ कोटपाल जार की।
राजबल पाया, प्राणप्यारे को बचाया, अब
दुलही कहाती है पवित्र परिवार की।।५।।

सोहनी सुरंग सारी कुरती किनारीदार
कामदार कंचुकी करेब की कसी रहै।
ठौर ठौर पूषण *से भूषण प्रकाश करें
ओज की उमंग अंग अंग में लसी रहै।।

४—पालक उज्जैन का राजा, उसका साला। संथानक=शहर का कोतवाल, वसन्त सेना का महावैरी।

५—ज्वारी=संवाहक नामक एक ब्राह्मणपुत्र जो बौद्ध विरक्त बन गया था। वसन्तसेना ने उसको अपना स्वर्ण-कंकण देकर अन्य ज्वारियों के बन्धन से छुड़ाया था।

चोर=शार्विलक नाम का एक कामी पुरुष जिसने चारुदत्त का घर फोड़ कर वसन्तसेना की धरोहर जेवर चुराये और मदनिका को लाकर दिये। वसन्तसेना ने वे जेवर और अपनी दासी मदनिका उसी चोर को दे दी।

दूत=मैत्रेय, चारुदत्त का मित्र जो धूता की माला लेकर गहने चोरी जाने पर वसन्तसेना के पास आया था।

मार सही जीती रही=वसन्तसेना चारुदत्त के पास बाग में जाते समय सवारी के बदल जाने पर संस्थानक के जाल में पड़ी। उसने इसको फाँसी देकर पत्तों के ढेर में गाड़ दिया और चारुदत्त को उसका हत्यारा सिद्ध करके न्यायालय से सूली का दंड दिलाया। वसन्तसेना पत्तों के ढेर में कुलबुलाई। उसे बौद्ध विरक्त ने निकाला। पालक का राज्य छीन कर आर्यक राजा बना। उस नये राजा ने चारुदत्त को बचाया और वसन्तसेना को वधू की पदवी प्रदान की। धूता सती होने से बची। रोहसेन अनाथ न हुआ।

*पूषण सूर्य्य।

बातें अनुराग भरी शील सभ्यता के साथ
शंकर धनी की धज ध्यान में धसी रहै।
चित्र सी विचित्र महासुन्दरी वसन्तसेना
मित्र चारुदत्त के चरित्र में बसी रहै।।६।।

सीस पै पसार फन लंक लों लपेटा मार
लट की लटक दिखलाती बलखाती थी।
माँग मुख फाड़ काढ़, मोतियों के दाने दाँत,
झूमर की जी में लप लप लपकाती थी।।
शंकर शिरोमणि की ज्योति का उजाला पाय
रोष भरी प्यारे रूप-कोष को रखाती थी।
बात बेणी नागिनि की तब की कही है जब
नाचती बसन्तसेना बाई गीत गाती थी।।७।।

कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है कि
श्यामघन मण्डल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।।
शंकर कसोटी पर कंचन की लीक है कि
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है?
काली पाटियों के बीच मोहनी की माँग है कि
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है।।८।।

उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो
काम ने भी देखो दो कमानें ताक तानी है।
शंकर कि भारती के भावने भवन पर
मोह महाराज की पताका फहरानी है।।
किंवा लट नागिनि की साँवली सँपेलियों ने
आधे विधु-विम्ब पै विलास विधि ठानी है।
काटती हैं कामियों को, काटती रहैंगी, कहो
भृकुटी कटारियों का कैसा कड़ा पानी है।।९।।

तेज न रहेगा तेजधारियों में नाम को भी,
मंगल मयंक मन्द मन्द पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे सरोवर में,
डूब डूब शंकर सरोज सड़ जायँगे।।
चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायँगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायँगे।।१०।।

आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से
भिन्नता की भींत करतार ने लगाई है।
नाक में निवास करने को कुटी शंकर कि
छवि ने क्षपाकर की छाती पै छवाई है॥
कौन मान लेगा कीर-तुण्ड की कठोरता में
कोमलता तिल के प्रसून की समाई है।
सैकड़ों नकीले कवि खोज खोज हारे पर
ऐसी नासिका की और उपमा न पाई है॥११॥
अम्बर में एक यहाँ दौज के सुधाकर दो
छोड़ें बसुधा पै सुधा मन्द मुसकान की।
फूले कोकनद में कुमुदनी के फूल खिलें
देखिये विचित्र दया भानु भगवान की॥
कोमल प्रवाल के से पल्लवों पै लाखा लाल
लाखे पर लालिमा विलास करे पान की।
आज इन ओठों का सुरंगी रसपान कर
कविता रसीली भई शंकर सुजान की॥१२॥
आनन-कलानिधि में दूनी कला देख देख
चाहक-चकोरों के उदास उर ऊलेंगे।
दाड़िम के दानी फल दाने उगलेंगे नहीं
कुन्द कलियों के झुण्ड झाड़ में न झूलेंगे॥
सीप के सपूतों पर शोभा न करेगी प्यार
शंकर चमेली और मोतिया न फूलेंगे।
दाँतों की बतीसी मणि मालिका हँसी की इस
दामिनी की दूती को न देवता भी भूलेंगे॥१३॥
शंख जो बराबरी की घोषणा सुनावेगा तो
नार कट जायगी उदर फट जायगा।
शंकर कली की छवि कदली दिखावेगा तो
ऐंठ अट जायगी छवाउ छट जायगा॥
कानन में कोकिल सुराग सरसावेगा तो
होड़ हट जायगी घमंड घट जायगा।
कोई कण्ठ कंठी इस कण्ठ की बँधावेगा तो
हुंडी पट जायगी प्रसाद बट जायगा॥१४॥

उन्नति के मूल ऊँचे उर अवनीतल पै
मन्दिर मनोहर मनोज के यमल हैं।
मेल के मनोरथ मथेंगे प्रेमसागर को
साधन उतंग युग मन्दर अचल हैं॥
उद्धत उमंग भरे यौवन खिलाड़ी के ये
शंकर से गोल कड़े कन्दुक युगल हैं।
तीनों मत रूखे रसहीन हैं उरोज पीन
सुन्दर शरीर सुरपादप के फल हैं॥१५॥
कंज से चरण कर, कदली से जंघ देखो,
क्षुद्र तण्डुला से दो उरोज गोल गोल हैं।
कृष्णकुण्डला से कान, भ्रंगवल्लभा से दृग,
किंशुक सी नासिका, गुलाब से कपोल हैं॥
चंचरीक पटली से केश, नई कोंपल से
अधर अरुण, कलकण्ठ के से बोल हैं।
शंकर वसन्तसेना बाई में वसन्त के से
सोहने सुलक्षण अनेक अनमोल हैं॥१६॥
कंचनी की रीति से रही न छैल छोकड़ों में
कुल-दुलहिन के से काम करती रही।
धीरता, उदारता, सुशीलता प्रवीणता से
शंकर प्रसिद्ध निज नाम करती रही॥
अन्त लों भलाई को न भूली किसी भाँति से भी
प्रेम का प्रचार आठों याम करती रही।
चित्र के समान कर मस्तक को लाय लाय
ज्ञानी गुरु लोगों को प्रणाम करती रही॥१७॥
बाग की बहार देखी मोसिमे बहार में तो
दिले अन्दलीब को रिझाया गुलेतर से।
हाय चकराते रहे आसमाँ के चक्कर में
तो भी लौ लगी ही रही माह की महर से॥
आतिशे मुसीबत ने दूर की कुदूरत को
बात की न बात मिली लज्जते शकर से।
शंकर नतीजा इस हाल का यही है बस
सच्ची आशकी में नफा होता है जरर से॥१८॥

१९०७

❀ ❀ ❀

१६—क्षुद्रतण्डुला = पोस्त का फल, अफीम की बोंड़ी। कृष्णकुण्डला पसेंदू का फूल, कृष्णकान्ता। भ्रंगवल्लभा = गुलेनरगिस, देवदारिका।

पं० गिरिधर शर्मा, नवरत्न

शरद

(१)

देखो कैसी शरद सुहाई,
अद्भुत सुन्दरता ले आई।
किसको नहीं लुभाती है यह ?
किस का चित न चुराती है यह ?

(२)

देखो तो खेतों के भीतर
मक्का, ज्वार, बाजरा सुन्दर।
पका शालि लहराता शुभतर;
कृषक-हृदय में मोह रहा भर॥

(३)

आती उड़ उड़ वहाँ शुकाली,
जिसकी शोभा निपट निराली।
उसे उड़ाते दे दे ताली
जो जन करते हैं रखवाली॥

(४)

शोभा देते खूब सरोवर;
सरसीरुह खिल रहे मनोहर।
गूंज रहे मतवाले मधुकर
श्रवण-सुखद रव हंस रहे कर।

(५)

हुआ कास विकसित अति सुन्दर
सारस बोल रहे हैं सुखकर।
मृदु मृदु कूज रहे पक्षीवर;
उतरे हैं खंजन पृथ्वी पर॥

(६)

हुवा प्रकृति का निर्मल जीवन,
स्वच्छ गम्य सब पन्थ गये बन।
विमल व्योम में छिटके तारे;
प्रमुदित हुए ज्योतिषी सारे॥

(७)

निर्मल चन्द्र-चन्द्रिका छाई,
जो चकोर-लोचन-सुखदायी।
करता सिन्धु गर्जना भारी;
छटा ज्वार-भाटे की न्यारी॥

(८)

मत्त मतंगज आते जाते
बन में विचरण कर सुख पाते।
शीतल, मन्द, सुगन्धित चलता
पवन, पुलक तनु में है भरता॥

(९)

मही सूंघ कर, पूछ उठा कर,
खुर से रज-कण खूब उड़ा कर।
वृष मद-भरे नाद करते हैं;
सिर ऊँचा करके फिरते हैं॥

(१०)

"अच्छे, स्वच्छ, सर्वदा रहना;
कलकल व्यर्थ कदापि न करना।
जड़ उखाड़ना नहीं किसी की;"
यही नीति अब हुई नदी की॥

(११)

सप्तच्छद में सुमन सुहाये;
मृदुल मालती पर भी आये।
हैं सौन्दर्य-उपासक जो जन,
ये सब हरते हैं उनका मन॥

१९०६

❀ ❀ ❀

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरिऔध

(१) कर्मवीर

देखकर जो विघ्न बाधाओं को घबराते नहीं।
भाग पर रह करके जो पीछे हैं पछताते नहीं।
काम कितनाहीं कठिन हो पर जो उकताते नहीं।
भीड़ पड़ने पर भी चंचलता जो दिखलाते नहीं।
होते हैं यक आन में उनके बुरे दिन भी भले।
सब जगह सब काल में रहते हैं वह फूले फले ॥१॥

आज जो करना है कर देते हैं उसको आज ही।
सोचते कहते हैं जो कुछ कर दिखाते हैं वही।
मानते जी की हैं, सुनते हैं सदा सबकी कही।
जो मदद करते हैं अपनी इस जगत में आपही।
भूल कर वह दूसरे का मुँह कभी तकते नहीं।
कौन ऐसा काम है जिसको वह कर सकते नहीं ॥२॥

जो कभी अपने समय को यों बिताते हैं नहीं।
काम करने की जगह बातें बनाते हैं नहीं।
'आज कल' करते हुए जो दिन गँवाते हैं नहीं।
यत्न करने में कभी जो जी चुराते हैं नहीं।
बात है वह कौन जो होती नहीं उनके किये।
वह नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिये ॥३॥

गगन को छूते हुए दुर्गम पहाड़ों के शिखर।
वह घने जंगल जहाँ रहता है तम आठों पहर।
गर्जते जल-राशि की उठती हुई ऊँची लहर।
आग की भयदायिनी फैली दिशाओं में लवर।
है कँपा सकती कभी जिसके कलेजे को नहीं।
भूल कर भी वह नहीं नाकाम रहता है कहीं ॥४॥

चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देवें बना।
काम पड़ने पर करें जो शेर का भी सामना।
हँसते हँसते जो चबा लेते हैं लोहे का चना।
"है कठिन कुछ भी नहीं" जिनके है जी में यह ठना।
कोस कितने ही चलें पर वह कभी थकते नहीं।
कौन सी है गाँठ जिसको खोल वह सकते नहीं ॥५॥

ठीकरों को वह बना देते हैं सोने की डली।
रंग को करके दिखा देते हैं वह सुन्दर खली।
वह बबूलों में लगा देते हैं चम्पे की कली।
काक को भी वह सिखा देते हैं कोकिल-काकली।
ऊसरों में हैं खिला देते अनूठे वह कमल।
वह लगा देते हैं उकठे काठ में भी फूल फल ॥६॥

काम को आरम्भ करके यों नहीं जो छोड़ते।
सामना करके नहीं जो भूल कर मुँह मोड़ते।
जो गगन के फूल बातों से वृथा नहि तोड़ते।
संपदा मन से करोड़ों की नहीं जो जोड़ते।
बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कारबन*।
काँच को करके दिखा देते हैं वह उज्जल रतन ॥७॥

पर्वतों को काट कर सड़कें बना देते हैं वह।
सैकड़ों मरुभूमि में नदियाँ बहा देते हैं वह।
अगम जलनिधि-गर्भ में बेड़ा चला देते हैं वह।
जंगलों में भी महा मंगल मचा देते हैं वह।
भेद नभतल का उन्होंने है बहुत बतला दिया।
है उन्होंने ही निकाली तार की सारी क्रिया ॥८॥

कार्य्य-थल को वह कभी नहि पूछते "वह है कहाँ"।
कर दिखाते हैं असम्भव को वही संभव यहाँ।
उलझनें आकर उन्हें पड़ती हैं जितनी ही जहाँ।
वे दिखाते हैं नया उत्साह उतना ही वहाँ।
डाल देते हैं विरोधी सैकड़ों हीं अड़चलें।
वह जगह से काम अपना ठीक करके ही टलें ॥९॥

जो रुकावट डाल कर होवे कोई पर्वत खड़ा।
तो उसे देते हैं अपनी युक्तियों से वह उड़ा।
बीच में पड़कर जलधि जो काम देवे गड़बड़ा।
तो बना देंगे उसे वह क्षुद्र पानी का घड़ा।
बन खँगा लेंगे करेंगे व्योम में बाजीगरी।
कुछ अजब धुन काम के करने की उनमें है भरी ॥१०॥

*कारबन=कोयला

सब तरह से आज जितने देश हैं फूले फले।
बुद्धि विद्या धन विभव के हैं जहाँ डेरे डले।
वे बनाने से उन्हीं के बन गये इतने भले।
वे सभी हैं हाथ से ऐसे सपूतों के पले।
लोग जब ऐसे समय पाकर जनम लेंगे कभी।
देश की वो जाति की होगी भलाई भी तभी।।११।।

१९०७

(२) उर्मिला

षट्पद

किसी ऊबती से न जी जो बचावें।
न दुख और का देख जो ऊब जावें।
कढ़ी आहें बेचैन जिनको बनावें।
जिन्हें प्यार की है परख वे बतावें।
किसी दिन भी दो बूंद आँसू गिरा कर।
हमारी पड़ी आँख है उर्मिला पर।।१।।

उसी उर्मिला पर न जिसने जताया।
किसी को दरद औ न दुखड़ा सुनाया।
तड़पता कलेजा न जिसने दिखाया।
न कोसा किसी को न मुखड़ा बनाया।
विरह-बेल जिसने हृदय बीच बोई।
जली रात दिन फूट कर जो न रोई।।२।।

जिसे प्यार कर, थी न फूले समाती।
न जिसका बदन देख कर थी अघाती।
न जिसके बिना थी कभी चैन पाती।
मधुर बात जिसकी बहुत थी लुभाती।
रही पद-सलिल प्रात ही जिसका पीती।
रही देख जिसकी कनक-कान्ति जीती।।३।।

उसी ने किया आह उससे किनारा।
न आई दया औ न दुख को बिचारा।
न एक बार उसके बदन को निहारा।
न देखी दृगों से गिरी वारि-धारा।
न दस पाँच दिन या बरस दो बरस को।
चला वह गया वन में चौदह बरस को।।४।।

सिसकती रही वह पड़ी एक कोने।
सुना सब निकल किन्तु आई न रोने।
कलेजे में दुख के पड़े बीज बोने।
उसे सब सुखों से पड़े हाथ धोने।
न तब भी विकल प्राणपति को बनाया।
न मुखड़ा डुबा आँसुओं में दिखाया।।५।।

जनक-नंदिनी सामने राम आईं।
किसी से तनिक भी न सहमीं सकाईं।
बिलख कर विरह-वेदनायें सुनाईं।
दृगों में भरी वारि-बूँदें दिखाईं।
अवध सब उठा कँप कुमारों-विरह से।
हिली तक नहीं उर्मिला निज जगह से।।६।।

जनक के सदन में पली उर्मिला थी।
सहेली सिया उच्च-कुल-कन्यका थी।
इसी से कहूँगा न वह निष्ठुरा थी।
बरन प्यार के रंग डूबी महा थी।
तनिक भी नहीं जो जगह से हिली वह।
बड़ी ही समझ बूझ की बात थी यह।।७।।

रहे राम स्वाधीन जेठे सहोदर।
उन्हें था न संकोच, सकते थे सब कर।
सुमित्रा-सुअन थे पराधीन सहचर।
विविध राम-सेवादि में रत निरन्तर।
इसी से नहीं साथ सकते थे ले जा।
प्रिया उर्मिला को कठिन कर कलेजा।।८।।

उसे ले अगर साथ सौमित्रि जाते।
बड़े काम तो एक भी कर न पाते।
कहाँ तक लजाते ढिठाई दिखाते।
बड़ों की बड़ाई कहाँ तक निभाते।
असुविधा सभी बात में मुख दिखाती।
बँधी मेंड मरजाद की टूट जाती॥९॥

समझती रही उर्मिला बात सारी।
रही पति-हृदय से उसे जानकारी।
नहीं मानती थी उसे वह सु-नारी।
जिसे कंत-अनुगामिता हो न प्यारी।
इसी से नहीं निज जगह से टली वह।
जहाँ थी वहीं दब विरह में जली वह॥१०॥

नहीं जो पती का हृदय जान पाती।
नहीं जो पती-काज निजता गँवाती।
नहीं आपही जो उचित कर दिखाती।
कठिन काल में जो नहीं काम आती।
न कोई सकेगा उसे कुलबधू कह।
न है प्यार के पन्थ की पन्थिनी वह॥११॥

भरी बात में हो बड़ी ही मिठाई।
लगी किन्तु होवे कलेजे में काई।
तनिक स्वार्थ-बू प्यार में हो समाई।
दुई की झलक हो दृगों रंग लाई।
भला है न तो ब्याहमण्डप में आना।
भरे लोग में नेह गाँठें गठाना॥१२॥

रही उर्मिला कुलबधू आर्य्य-बाला।
मिला था उसे उर बड़ा प्यार वाला।
इसी से बहुत जी को उसने सँभाला।
पकड़ कर कलेजा सहा सब कसाला।
बड़े लाड़ औ प्यार के साथ पोसी।
जली औ घुली मोम की बत्तियों सी॥१३॥

न तब भी किसी ने गले आ लगाया।
न पोंछा सलिल जो दृगों ने बहाया।
न कर तक उसे बोधने को बढ़ाया।
दिखाई पड़ी तक किसी की न छाया।
न सोचा किसी ने कभी आँख भर कर।
गई बीत क्या इस सरल बालिका पर॥१४॥

सभी की बड़ों ओर है आँख जाती।
दुखी दीन की है किसे याद आती।
नहीं दुन्द जो रो-कलप कर मचाती।
नहीं पीर उसकी किसी को जनाती।
सदा ही यही ढंग जग का दिखाया।
किसे नाद-निधि में नदी-रव सुनाया॥१५॥

१९१४

❀ ❀ ❀

पाण्डेय लोचनप्रसाद

(१) रे मन

१—दुर्लभ नर-तनु सुन्दर पाकर
वृथा जन्म क्यों खोता है?
रे मन मूर्ख चेत कर झट पट
मोह-नींद क्यों सोता है?

२—सोया, उसने ही है खोया,
जागा, उसने पाया है।
सोच आत्म-कर्त्तव्य एक क्षण
क्यों इस जग में आया है?

३—उठता न तू, न तू सुनता है
व्यर्थ विलम्ब लगाता है।
चले गये साथी सब तेरे
यहीं तू रहा जाता है॥
४—इस कण्टकमय वन के भीतर
तू निःशंक विचरता है।
रे मन मूढ़ नहीं डरता तू
आत्मघात क्यों करता है?
५—मग है विकट कटक विषयों का
तुझे घेरता आता है।
तिस पर भी तू रे हतभागी!
जरा नहीं घबराता है।
६—जन, धन, दौलत, राजपाट सब
कोई काम न आवेगा।
पथ चोरों से घिरा हुआ है
यह सारा लुट जावेगा॥
७—माता, पिता, सुता, सुत, दारा
भ्राता जो दिखलाते हैं।
सो सब सुख के ही साथी हैं
अन्त साथ नहिं जाते हैं॥
८—विद्या, विभव, धाम, धरणी सब
यहीं पड़ा रह जाता है।
धर्म एक सच्चा साथी है
उसे भूल क्यों जाता है?
९—इसको कर विश्वास चित्त में,
झूठा सारा नाता है।
दान, दया, शम, शौच, सत्य को
अरे क्यों न अपनाता है?
१०—अशरण-शरण दयामय हरि को
भूल, सु-अवसर खोता है।
उसकी कृपा बिना क्या कोई
सुखी कहीं भी होता है?
११—अति अगाध माया में फँस कर
पाप-बीज क्यों बोता है?
रे मन मूढ़, चेत कर झट पट
मोह-नींद क्यों सोता है?

१९०७

(२) शान्ति-सङ्गीत

(१)

भाई, सभी दिन सदा न समान जाते;
हैं मूढ़ जो विभव में मन गर्व लाते
है देह ही जब विनश्वर सत्य सत्य,
तो क्या भला विभव-भंगुरता असत्य?

(२)

तू देख ले नयन को अपने उघार,
देता तुझे जगत है, उपदेश-सार:—
है सर्वदा स्थिर यहाँ किसकी अवस्था?
होती अखण्ड जग में किसकी व्यवस्था?

(३)

है विश्व-वस्तु परिवर्तनशील, मित्र!
होते चरित्र भव के सब हैं विचित्र।
है सौख्य में दुख छिपा रहता अदृश्य।
दुःखान्त में प्रकटता सुख-शान्ति-दृश्य॥

(४)

भाई, हुई कलह से किसकी भलाई?
त्यागो सतर्क नित आपस की लड़ाई।
रक्खो सदैव सबसे शुचि-साधु-भाव;
होगा कभी फिर नहीं सुख का अभाव॥

(५)

जो अन्य-अल्प-गुण भी गिरि सा विचारे
हैं सन्त सो सविधि पूज्य सदा हमारे।
होते प्रफुल्ल पर के गुण जो विलोक,
वे स्वर्ग-तुल्य करते यह मर्त्य-लोक।।

(६)

होती अलक्षित अहर्निश आयु क्षीण;
आलस्य में सतत तू नर! हो न लीन।
कर्त्तव्य में निरत हो, तज मूढ़! माया;
खो पाप में न यह दुर्लभ दिव्य काया।।

(७)

क्यों भूतकालिक दुखों पर खेद पाते?
भाई! गये दिन कभी फिर हैं न आते।
लो वर्तमान अपने कर सर्व कार्य्य,
सत्कार्य्य-जात कल को रखते न आर्य्य।।

(८)

पाया शरीर जिससे इस लोक बीच,
तू है उसे स्मरण भी करता न नीच।
है मत्त तू विषय में पुरुषत्त्व खो के,
क्यों आत्म-शत्रु बनता गतसत्त्व हो के?

(९)

तू धर्म से विमुख ही रहता सदैव,
आमोद-सिन्धु -जल में बहता सदैव।
है सौख्य-भोग नर-जीवन का न काम,
हो भोग-लिप्सु मत तू बन रोगधाम।।

(१०)

तू भिन्नता-विषय का तज निन्द्य गान,
संसार को निज-कुटुम्ब-समान जान।
निष्काम हो दुखित को दुख से उबार;
है धर्मसार बस एक परोपकार।।

(११)

है सर्वथा सहज मौखिक धर्म-शिक्षा,
लेना बड़ा सुगम है शुभ साधु-दीक्षा।
है किन्तु दुष्कर बड़ी इनकी समीक्षा;
होती यथा-समय है सबकी परीक्षा।।

(१२)

लाखों हुए नृपति वैभवशक्ति-पूर्ण,
हा! मृत्यु के मुख हुए पड़ सर्व चूर्ण।
है और अन्य जन का तब क्या ठिकाना?
सद्धर्म से पद नहीं अपना हटाना।।

(१३)

सेवा सदैव जग की करना सभक्ति;
सद्धर्म का पथ सदा धरना सभक्ति।
आपत्ति दीन जन की हरना सभक्ति;
आनन्द से अभय हो मरना सभक्ति।।

(१४)

हिंसा, आलस्य, ईर्ष्या, कलह, रुज, घृणा, फूट, चिन्ता, विषाद,
हो जावें लोप सारे व्यसन, अघ, व्यथा, मोह, माया, प्रमाद।
काम-क्रोधादि, तृष्णा, तज, जगत करे धर्म-स्वातन्त्र्य-पान,
पावे संसार सारे सुख, नित, करते शान्ति-संगीत-गान।।

१९११

(३ ग्राम-गौरव

कपट-कलह-ईर्ष्या-पाप-पाखण्ड युक्त—
व्यसन-विषय से हो सर्वथा ही विमुक्त,
सदन शुचि सुधा के शान्ति-सारल्य-धाम
नित चित किसके ये मोहते हैं न ग्राम।।१।।
विषमय न यहाँ है स्वार्थ का घाव घोर;
श्रुति-कटु न यहाँ है शान्ति का शत्रु शोर।
वन, गिरि, झरने हैं शान्तिदायी विचित्र;
अतिसुखद सदा है ग्राम का वास मित्र।।२।।
सरल-हृदय होते ग्रामवासी किसान,
श्रमरत श्रमजीवी सच्चरित्र-प्रधान,
सुखयुत रहते वे अल्प में तुष्टि मान,
लघु धन- महिमा में, सद्गुणों में महान्।।३।।

१९१२

❀ ❀ ❀

पं० रामचरित उपाध्याय

वीर-वचनावली

१––निज बल से बलि के बन्धन को
तोड़ न सका पैठि पाताल;
शशिकलंक मैंने नहिं मेटा;
मेरे हाथों मरा न काल।
शेषशीस से धरा छीन कर,
ले न सका सिर उसका भार,
शत्रु-शमन कर सका न अपना,
लाख बार मुझको धिक्कार !

२––भीम-भुजंग-ओष्ठ चुम्बन कर,
नश्वर देह दीजिए मेट;
चाहे कालकूट को पी कर
शीघ्र कीजिए यम से भेंट।
या गिरिवर से गिर कर करिए
लाखों टुकड़े अपना माथ;
पर न कभी जीते जी खल के
सम्मुख चल पसारिए हाथ ।।

३––अपने प्रण से वीर न टलते
चाहे उन्हें डालिए पीस;
नेम निबाहेंगे वे अपना
जब तक उनके धड़ पर शीस।
शिरच्छेद हो जाने पर भी
धन्य राहु तू अद्भुत वीर;
सूर्य चन्द्रमा दोनों का जो
ग्रसता तू तेजसी शरीर।

४––खाकर जिसे उगल देते हैं,
फिर उसको ही खाते श्वान,
छोड़ दिया है जिसे उसे फिर,
छूते नहीं कभी मतिमान।
प्राणों ही के साथ सर्वदा
प्रण भी उनका जाता है;
शीतल कभी न होता पावक,
बुझ जरूर वह जाता है।।

५––जरा उछलने से मछली के
वारिधि चाहे कँप जावे;
मृग-शिशु के चलने से फटकर
धरणी चाहे धँस जावे।
लघुतम लवा देख खगपति भी
अति भयार्त्त भग सकता है;
वज्रपात से भी न वीर का
हृदय कभी हिल सकता है ।।

६––खाकर लात शान्त जो रहते,
साधु नहीं वे पूरे मूढ़;
मारो लात धूलि पर देखो,
हो जावेगी सिर-आरूढ़।
रिपु से बदला लिये बिना ही
कायर नर रह जाते हैं ?;
तेजस्वी जन उसके सिर पर
पद रख यश फैलाते हैं ।।

७––शान्त चित्त सीधे लोगों का
करते हैं जो जन अपमान,
दारुण फल उसका मिलता है
उनक , मानों वचन प्रमाण।
किसे नहीं है विदित विश्व में
चन्दन का शीतत्व स्वभाव ?
पर घर्षण से प्रकटाता है
वह भी अपना दाहक-भाव ।।

८––त्रिभुवन हो जाता है आँगन
जिन्हें प्रतिज्ञा की है लाज;
अपने ही बल का बल रखते
नहीं चाहते साज समाज।
पहिया एक, विषम घोड़े हैं,
बिना पैर का गाड़ीवान,
नित ही नभ में तो भी रथ को
दौड़ाते हैं रवि भगवान ।।

९—सच्चा तेजस्वी जो होगा
कभी न छोड़ेगा निज बान;
वज्रहृदय होकर सह लेगा
सुख-दुख मान और अपमान।
बलती हुई आग का नीचे
मुँह लटकाओ, पर, तब भी,
ऊपर ही को लपट जायगी,
नीचे को वह नहीं कभी॥
१०—धीर-धुरीण लोग जो चाहें
कर लेंगे वह काम जरूर;
जरा नहीं वे कभी करेंगे
हानि-लाभ से ग्लानि गरूर।
श्री पाकर के हँसे न सुर सब,
विष पाकर नहिं शोक किया;
चले गये वारिधि को मथते
जब तक नहिं पीयूष पिया॥
११—न्यायपरायण जो नर होगा
उसकी कभी न होगी हार;
कपटी कुटिल कोटि रिपु उसके
हो जावेंगे क्षण में छार।
पाण्डव पाँच रहे, कौरव सौ,
राम एक थे निशिचर लक्ष।
विजयी वे ही हुए, देख लो,
न्याययुक्त था जिनका पक्ष॥

१९०७

❀ ❀ ❀

पं० मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी'

भगवान् श्रीकृष्ण

(१)
पाप से सद्धर्म छिप जाता जगत में जब कभी।
ईश सब सन्ताप हरने को प्रकट होता तभी॥
(२)
धर्म-रक्षा हेतु करके दुर्जनों का सर्वनाश।
दूर कर संसार का तम सत्य का करता विकाश॥
(३)
इस तरह अवतार लेता विश्व में विश्वेश है।
शेष रहता फिर कहाँ आपत्ति का लवलेश है?
(४)
कंस ने उत्पात भारी जब मचाया था यहाँ।
द्यूतकारी मद्यपी धन लूटता पाता जहाँ॥
(५)
डर उसे था हर घड़ी श्रीकृष्ण के अवतार का।
देवकी को दुख मिला पतियुक्त कारागार का॥
(६)
भाद्र की कृष्णाष्टमी सब ओर छाया अन्धकार।
चञ्चला घनघोरमाला में चमकती बार बार॥
(७)
ज्योति निर्मल देवकी के गर्भ में हो भासमान।
विश्वपति शिशुरूप में लाया गया गोकुल निदान॥
(८)
नन्द ने अपना समझ कर प्रेम से पाला उसे।
इसलिए संसार कहता नन्द का लाला उसे॥
(९)
कृष्ण वंशी को बजा गायें चराता था कभी।
दूध माखन चोर कर मन को चुराता था कभी॥
(१०)
पूतना केशी तथा कंसादि का संहार कर।
द्वारिका जाके बसाया देवद्विज का कष्ट हर॥



इंडियन प्रेस के जनरल मैनेजर और सरस्वती के प्रकाशक स्व० श्री हरिकेशव घोष (पटलबाबू)



इस अंक के लिए विशेष रूप से तैयार किया गया राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादजी का भावपूर्ण चित्र

(११)

बातही उलटी हुई हा ! अब मुरारी है नहीं।
अब हमारे बीच में व्रज का विहारी है नहीं॥

(१२)

किन्तु उसका रूप सुन्दर है नहीं दिल से हटा।
याद आती हाय ! अब भी साँवली सुन्दर छटा॥

(१३)

है मुझे विश्वास, फिर भी श्याम आवेगा कभी।
मोहनेवाली मधुर बंशी बजावेगा कभी॥

(१४)

पाप-तापों से हमें वह फिर छुड़ावेगा कभी।
सर्व दुःखों को दयामय फिर मिटावेगा कभी॥

१९१०

❀ ❀ ❀

सैयद अमीरअली 'मीर'

संध्या

जब क्षितिज के गर्भ में छिप भास्कर-प्रतिभा गई
तब प्रतीची-व्योम में आकर अरुणिमा छा गई।
देख कर उसकी प्रभा को यों उठी जी में तरंग—
छोड़ जाते हैं बड़े जन अन्त यश अपना अभंग॥१॥

भानु तो चलता हुआ लेकिन प्रभाली रह गई,
रम गया जोगी कहीं है खाक खाली रह गई।
रात से दिन को मिलाने आ गई सन्ध्या सदेह,
हा ! सखी-सम्बोध से हैं वर-वधू मिलते सनेह॥२॥

यह अरुणता भासती मानों निशा की सहचरी,
देख कर रवि का पराभव हँस रही सुख से भरी।
कह रही जग से निरातप रात का है यह प्रताप,
कुजन पहले आपको सूचित किया करते अपाप॥३॥

रात ने पाया विजय जयकेतु यह फहरा रहा,
या उसी के राग का है सिन्धु यह लहरा रहा।
छिप गया सूरज, तदपि है कुछ प्रभा छाई अभी,
न्यायी नृपति के बाद भी जाता न उसका यश सभी॥४॥

पूर्व से पहले प्रकाशित थी हुई पश्चिम दिशा,
हाय ! अब उस ओर से दौड़ी चली आती निशा।
मूँद लीं आँखें कमल ने देख कर तम का विकास,
मौन ही रहते सुजन हैं दुर्जनों को देख पास॥५॥

है प्रतीची ने अरुण-पट प्रेम से धारण किया,
हो गया अन्दाज कुदरत ने बदल परदा दिया।
घट चला आलोक अब बढ़ने लगा है अन्धकार,
हा ! प्रतीची को निगल जावे न प्राची एक बार॥६॥

उल्लुओं-चमगीदड़ों की देख लो अब बन पड़ी,
निशि-समागम से खुशी है जार-चोरों को बड़ी।
एक दो करके चमकने अब लगे तारे तमाम,
होता कुपूतों से नहीं है वंश कोई नेकनाम॥७॥

देखते थे सब अभी तो फिर कहाँ वह छिप गई,
अन्त में सबकी तरह निर्जीव सन्ध्या भी हुई।
मीर चुपके हो रहो अब रात का है अन्ध-राज,
फिर उदय होगा प्रभाकर फिर सजेगा साज बाज॥८॥

१९११

❀ ❀ ❀

पं० रामनरेश त्रिपाठी

पुस्तक

आओ, आओ, प्यारी पुस्तक, मम कर-पंकज में खेलो;
खोलो तीनों द्वार दया कर भीतर मेरा मन ले लो।

तुम मयंक हो; मैं चकोर हूँ; सुमति-सुधारस पीता हूँ;
इससे ही सम-विषम-समय में शान्ति-भाव रख जीता हूँ।

घर में, वन में, कारागृह में सदा सदय होकर आओ;
महामहिम मनुजों के अतिशय रोचक चरित सुना जाओ।

सुनकर चरित महापुरुषों के मैं उदार बन जाऊँगा;
सम्भव होगा तो इस विधि मैं तेरा वंश बढ़ाऊँगा।

चाहे तुम अतिजीर्ण साज सज क्यों न निकट मेरे आओ;
टूटे ही फूटे शब्दों में अपना मतलब कह जाओ।

पै न तुम्हारा साथ छोड़ मैं राजा होना चाहूँगा;
आजीवन प्रण कर कहता हूँ, प्रणय पवित्र निबाहूँगा।

तुम को मंत्री पद पर पाकर, हाँ, यदि राजा हो जाऊँ;
तव संगति-सुख छोड़ स्वर्ग-सुख-हेतु भी न मैं ललचाऊँ।

जब तक जीता हूँ, न दृगों से तुमको दूर हटाऊँगा;
तभी साथ छूटेगा जब मैं अन्त समय मर जाऊँगा।

मैं अपने मन के मन्दिर में मूर्ति तुम्हारी धरता हूँ;
हे पुस्तक-वर, तुमसे बस मैं यही प्रार्थना करता हूँ।

निशि दिन सोते जगते मेरे पास बनी रहना सब काल,
तव वियोग से कभी न होना पड़े मुझे विह्वल बेहाल।।

१९११

❀ ❀ ❀

पं० रूपनारायण पाण्डेय (कमलाकर)

(१) सरस्वती

सरस्वती भगवती, प्रभा प्रतिभा की धारे।
भाव-भावना श्वेत कमल पर आसन मारे।।
लिये कल्पना-कमल एक कर, क्रीड़ा करती।
वर्ण-माल की अक्षमाल दूजे कर धरती।।
शिक्षा की पुस्तक लिये तीजे कर महँ भारती।
रचना की बीना गहे चौथे कर झनकारती।।१।।

गद्य-पद्य के लसत बसन उज्ज्वल अति सुन्दर।
शब्द-वाक्य-विन्यास-घटित आभरन मनोहर।।
शान्ति-पूर्ण मुख-कान्ति भ्रान्ति सब मेटत मन की।
दया-दृष्टि हरि लेत तुरतही जड़ता जन की।।
सकल-कला-कौशल-कलित राजट मुकुट किरीत सिर।
ज्ञान और विज्ञान के कुण्डल कानन में रुचिर।।२।।

आदि अन्त से रहित, तदपि तू नित्य नयी है।
पराशक्ति, विधि-बधू, बोध विज्ञान-मयी है।।
ब्रह्म-सच्चिदानन्दरूपिणी अम्बे! तू है।
सृष्टि-स्थिति-संहारकारिणी अम्बे! तू है।।
तुव सेवा में श्रम किये दूर होत अज्ञान-भ्रम।
कालिदास से मूढ़ नर पण्डित-पद पावैं परम।।३।।

व्यासदेव, बाल्मीकि आदि कवि विद्यासागर।
दण्डी, भारवि, माघ, बाण, श्रीहर्ष गुणागर।।
बिल्हण, नरहरि, प्रवरसेन, भवभूति यशस्वी।
जगन्नाथ, जयदेव, भर्तृहरि महा मनस्वी।।
सूरदास, तुलसी सुकवि, केशव, देवादिक अपर।
तुव प्रसाद-पीयूष-कण पाय भये भूपर अमर।।४।।

सेवा तेरी तेजी, मोह से कर ली यारी।
यद्यपि यह अपराध हुआ है हमसे भारी॥
तदपि भारती मात रूठना तुम्हें न चहिए।
भारत-नाते पुत्र जान कर दूर न रहिए॥
पुत्र कुपुत्र अनेक हैं देखे सुने जहान में।
किन्तु कुमाता की भनक कहीं पड़ी नहिं कानमें॥५॥

१९११

(२) चीथड़े

एक जमाना हमारा भी था,
जिनको अपना लिया वे बड़े हो गये।
शान थी ऐसी दूकान में देखने
बूढ़े, जवान सभी खड़े हो गये॥
हाँ, हँसिए मत, काल का फेर है,
जो हम गन्दे, गले, सड़े हो गये।
दैव की मार पड़ी जो बड़ी तो
विदीर्ण हुआ उर, चीथड़े हो गये॥
लिपटा रहूँ वैभव से मैं नहीं,
धनवानों से नाता न जोड़ता हूँ।
बड़े मोल की शान नहीं मुझमें,
दुख से मुख भी मैं न मोड़ता हूँ॥
नहीं भाई से भाई जुदा करता,
न किसी का कभी घर फोड़ता हूँ।
मुझे गर्व यही, यही गौरव है,
मैं गरीब का साथ न छोड़ता हूँ।
सब नाक सिकोड़ते देख मुझे,
मुख मोड़ते, दोष निकालते हैं।
इस बाने पै ताने कसा करते,
मुझको वह सूल से सालते हैं॥
किसको कहूँ, मेरे ही अंग जो हैं,
वह डोरे भी डोरे न डालते हैं।
कटते, फटते, हटते रहते,
मिटते हुए को न संभालते हैं॥
मिल में हुआ था पैदा, शैदा सब लोग हुए,
होता भी बखान मेरी रंगत सवाई का।
नाजनीं हसीनों ने लगाया मुझे सीने से था,
सीने से बढ़ा यों मोल मेरी खुशनुमाई का॥
क्या कहूँ, कहूँ भी तो कहाँ है हमदर्द यहाँ?
जाहिर जहाँ में किस्सा मेरी रुसवाई का॥
गंदा है गुनाहगार, बंदा फटा चीथड़ा है,
अब तो रहा न मोल मेरा एक पाई का॥

१९५७

❀ ❀ ❀

पाण्डेय मुकुटधर शर्मा

जीवन-साफल्य

(१)

अपने को यह अपना जीवन जिस प्रकार अति प्यारा है;
अन्य प्राणियों का भी जीवन उससे स्वल्प न न्यारा है।
ऐसा सोच अहिंसा ही को परम धर्म जिसने जाना;
सफल किया, बस, उसी एक ने इस जग में अपना आना॥

(२)

अन्तर्हित हो वही अकेला सदा सब जगह रहता है;
दया-स्रोत उसका हम सब पर अविश्रान्त नित बहता है।
मन, वच और कर्म्म से जिसने ऐसे प्रभु को अनुमाना,
सफल किया, बस उसी एक ने इस जग में अपना आना॥

(३)

सदाचार सद्‌गुण से जिसने सब प्रकार नाता जोड़ा;
दुराचार, दुर्गुण, दुरितों से जिसने अपना मुँह मोड़ा।
उचित छोड़ जिसने अनुचित को किया नहीं है मनमाना;
सफल किया, बस, उसी एक ने इस जग में अपना आना।।

(४)

काम, क्रोध, मद, लोभ न जिसके पास फटकने पाते हैं;
दया, धर्म, एकता, शान्ति, शुचि शील जिसे अति भाते हैं।
पुण्य-प्रेम क्या वस्तु—तत्व इसका यथार्थ जिसने जाना;
सफल किया, बस, उसी एक ने इस जग में अपना आना।।

(५)

न्यायान्याय बिसार, स्वार्थ से अन्ध न जो बन बैठा है;
विद्या, बल, पौरुष पा कर भी जो न गर्व से ऐंठा है।
पर-उपकार-धर्म को जिसने स्वच्छ हृदय से पहचाना;
सफल किया, बस, उसी एक ने इस जग में अपना आना।।

(६)

जननी, जन्म-भूमि पर जिसने, तन, मन अपना वारा है;
उसके दुख, दरिद्र हरने का अति पवित्र व्रत धारा है।
जिसने सतत लोक-सेवा का ग्रहण किया है वर-बाना;
सफल किया, बस, उसी एक ने इस जग में अपना आना।।

(७)

देख दुःख पर का पल भर भी जिससे रहा न जाता है;
अन्धे, बहरे, लँगड़े की जो बिनती पर चित लाता है।
जो अनाथ असहाय जनों का जाता है आश्रय माना;
सफल किया, बस, उसी एक ने इस जग में अपना आना।।

(८)

साधु महात्माओं की संगति जिसको है अतिशय प्यारी;
सुनता जो उपदेश-वचन नित सादर उनके सुखकारी।
बुरे संग में जिसे न आता व्यर्थ वाद में उलझाना;
सफल किया, बस, उसी एक ने इस जग में अपना आना।।

(९)

भूले-भटके, लघु-गुरु सब का जो सम आदर करता है;
विनय-वचन-युत सब लोगों का यथा-शक्ति मन हरता है।
दिखला कर पर-दोष न भाता जिसको अपने गुण गाना;
सफल किया, बस, उसी एक ने इस जग में अपना आना।।

(१०)

मरने पर, जिसके वियोग में, रिपु भी अश्रु बहाते हैं;
शत्रु-मित्र सब एक स्वर से जिसके गुण-गण गाते हैं।
भाग्यवान वह, जिसे सदा को था अजरामर-पद पाना;
सफल किया, बस, उसी एक ने इस जग में अपना आना।।

१९१२

❀ ❀ ❀

बाबू जयशङ्करप्रसाद

(१) जलद-आवाहन

शीघ्र आजाओ जलद ! स्वागत तुम्हारा हम करें।
ग्रीष्म से सन्तप्त मन के ताप को कुछ कम करें।।
है धरित्री के उरस्थल में जलन तेरे बिना।
शून्य है आकाश तेरे ही जलद घेरे बिना।।१।।

मान-दण्ड समान जो संसार को हैं मापते।
लूह की पंचाग्नि जो दिन रात ही हैं तापते।।
जीव जिनकी आश्रमोपम गुह-गुहा में मोद से।
वास करते, खेलते हैं बाल-वृन्द-विनोद से।।२।।

पत्रहीना बल्लरी जिन की जटा बिखरी हुई।
उत्तरीय समान जिन पर धूप है निखरी हुई।।
शैल वे साधक अचल जीवन-सुधा को चाहते।
ध्यान में काली घटा के नित्यही अवगाहते।।३।।

धूलि-धूसर है धरा मलिना तुम्हारे ही लिए।
है फटी दूर्वादलों की श्याम साड़ी देखिए।।
डालकर पर्दे हरे तरुपुंज के निज बाग से।
देखती है शून्य पथ की ओर अति अनुराग से।।४।।

जल रही छाती तुम्हारा प्रेम-वारि मिला नहीं।
इसलिए उसका मनोगत-भाव-फूल खिला नहीं।।

नेत्र-निर्झर सुख-सलिल से भरें, दुख सारे भगें।
शीघ्र आजाओ जलद! आनन्द के अंकुर उगें।।५।।

१९१२

(२) मुझको न मिला है कभी प्यार

वह कौन अकिंचन अति आतुर,
चिर तृषित कंठ से तृप्ति विधुर।
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ-सदृश——
ध्वनि कम्पित करता बार बार।
धीरे से वह उठता पुकार——
मुझको न मिला है कभी प्यार।

सागर लहरों का आलिंगन——
निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन।
जल-वैभव है सीमा-विहीन,
वह रहा एक कन को निहार।
धीरे से वह उठता पुकार——
मुझको न मिला है कभी प्यार।

अकरुण वसुधा से एक झलक,
वह स्मित मिलने को रहा ललक।
जिसके प्रकाश में सकल कर्म
बनते कोमल उज्ज्वल उदार
धीरे से वह उठता पुकार——
मुझको न मिला है कभी प्यार।

फैलाती है जब उषा राग
जग जाता है उसका विराग
वंचकता, पीड़ा, घृणा, मोह
मिलकर बिखेरते अन्धकार
धीरे से वह उठता पुकार——
मुझको न मिला है कभी प्यार

दल विरल डालियाँ भरीं मुकुल
झुकतीं सौरभ रस लिये अतुल
अपने विषाद-विष में मूर्छित
काँटों से बिंधकर बार बार
धीरे से वह उठता पुकार——
मुझको न मिला है कभी प्यार।

जीवन-रजनी का अमल इन्दु
न मिला, स्वाती का एक बिन्दु
जो हृदय सीप में मोती बन
पूरा कर देता लक्ष हार।
धीरे से वह उठता पुकार——
मुझको न मिला है कभी प्यार।

× × ×

पागल रे! वह मिलता है कब?
उसको तो देते ही हैं सब।
आँसू के कन कन से गिनकर——
यह विश्व लिये है ऋण उधार।
तू क्यों फिर उठता है पुकार?
'मुझको न मिला है कभी प्यार'।

१९३३

(३) प्यार

काली आँखों का अन्धकार
जब हो जाता है आर-पार।
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार॥
वह चित्र! रंग का ले बहार।
जिसमें है केवल प्यार प्यार॥

केवल स्मितिमय चाँदनी रात
तारा-किरनों से पुलक गात।
मधुपों मुकुलों के चले घात
आता है चुपके मलय वात॥
सपनों के बादल का दुलार।
तब दे जाता है बूंद चार॥

तब लहरों-सा उठकर अधीर
तू मधुर व्यथा-सा शून्य चीर।
सूखे किसलय-सा भरा पीर
गिर जा, पतझड़ का पा समीर॥
पहने छाती पर तरल हार।
पागल पुकार फिर प्यार प्यार॥

१९३४

(४) श्रद्धा-गीत

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन!

× × ×

जहाँ मरु-ज्वाला धधकती
चातकी कन को तरसती
उन्हीं जीवन-घाटियों की
मैं सरस बरसात रे मन!

विकल होकर नित्य चंचल
खोजती जब नींद के पल
चेतना थक-सी रही, तब
मैं मलय की वात रे मन!

पवन की प्राचीर में रुक
जला जीवन जी रहा झुक
इस झुलसते विश्व दिन की
मैं कुसुम ऋतु रात रे मन।

चिर विषाद विलीन मन की
इस व्यथा के तिमिर वन की
मैं उषा-सी ज्योति-रेखा
कुसुम विकसित प्रात रे मन!

चिर निराशा नीरधर से
प्रतिच्छायित अश्रुसर में
मधुप मुखर मरन्द मुकुलित
मैं सजल जलजात रे मन!

१९३५

(५) कामायनी

(१०वें सर्ग का एक अंश)

संध्या अरुण-जलज-केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती!
क्षितिज-भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती ।।

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा;
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ!
वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा, ये सब कोई नहीं जहाँ ।।

जहाँ तामरस इंदीवर या सित शतदल हैं मुरझाये,
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये।
वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
शिशिर-काल का क्षीण स्रोत वह जो हिमतल में जम जाये।

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक, साकार नहीं।
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी-सी विरह-नदी थी जिसका है अब पार नहीं!

नील गगन में उड़ती-उड़ती विहग-बालिका-सी किरनें,
स्वप्न-लोक को चलीं थकी-सी नींद-सेज पर जा गिरने।
किन्तु विरहिणी के जीवन में एक घड़ी विश्राम नहीं
बिजली-सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम घन घिरने

संध्या नील सरोरुह से जो श्याम पराग बिखरते थे,
शैल-घाटियों के अंचल को वे धीरे से भरते थे;
तृण-गुल्मों से रोमांचित नग सुनते उस दुख की गाथा,
श्रद्धा की सूनी साँसों से मिलकर जो स्वर भरते थे।

× × ×

"जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनि कुछ बोलोगी?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद हैं गिन दोगी?
प्रतिबिम्बित है तारा तुममें, सिन्धु-मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी!

इस अवकास-पटी पर जितने चित्र बिगड़ते बनते हैं,
उनमें कितने रंग भरे जो सुर-धनु-पट से छनते हैं।
किन्तु सकल अणु पल में घुलकर व्यापक नील शून्यता-सा,
जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते हैं।।

दग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहू में आज यहाँ!
कितना स्नेह जलाकर जलता ऐसा है लघु दीप कहाँ?
बुझ न जाय वह साँझ-किरन-सी दीप-शिखा इस कुटिया की,
शलभ समीप नहीं तो अच्छा सुखी अकेले जले यहाँ!

आज सुनो केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले,
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले;
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या,
कामायनि तू हृदय कड़ाकर धीरे-धीरे सब सह ले!

विरल डालियों के निकुंज सब ले दुख के निश्वास रहे,
उस स्मृति का समीर चलता है मिलन-कथा फिर कौन कहे?
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना,
किन चरणों को धोयेंगे जो अश्रु पलक के पार बहे!

अरे मधुर हैं कष्ट-पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ!
जब निःसम्बल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ,
वही एक जो सत्य बना था चिर सुन्दरता में अपनी,
छिपा कहीं, तब कैसे सुलझे उलझी सुख-दुख की लड़ियाँ!

विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं;
वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नहीं;
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा, मधु अभिलाषायें,
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं!

वे आलिंगन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ?
और मधुर विश्वास! अरे वह पागल मन का मोह रहा;
वंचित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का,
कभी दे दिया था कुछ मैंने ऐसा अब अनुमान रहा।।

विनिमय प्राणों का यह कितना भय-संकुल व्यापार अरे,
देना हो जितना दे-दे तू, लेना! कोई यह न करे!
परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती;
सन्ध्या रवि देकर पाती है इधर-उधर उडुगन बिखरे!

वे कुछ दिन जो हँसते आये अन्तरिक्ष अरुणाचल से,
फूलों की भरमार स्वरों का कूजन लिये कुहक बल से,
फैल गई जब स्मिति की माया, किरन कली की क्रीड़ा से,
चिर प्रवास में चले गये वे आने को कहकर छल से!

जब शिरीष की मधुर गन्ध से मान-भरी मधु-ऋतु रातें,
रूठ चली जातीं रक्तिम-मुख, न सह जागरण की घातें।
दिवस मधुर आलाप कथा-सा कहता छा जाता नभ में,
वे जगते सपने अपने फिर तारा बनकर मुसक्याते"॥

वन-बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
लौट चुके थे आनेवाले सुन पुकार अपने घर से;
किन्तु न आया वह परदेशी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भींगी पलकों से तुहिन-विन्दु कण-कण बरसे !

मानस का स्मृति-शतदल खिलता, झरते बिन्दु मरन्द घने,
मोती कठिन पारदर्शी ये, इनमें कितने चित्र बने !
आँसू सरल तरल विद्युत्कण नयनालोक विरह-तम से,
प्राण पथिक यह संबल लेकर लगा कल्पना-जग रचने॥

अरुण जलज के शोण कोण थे नव तुषार के विन्दु भरे,
मुकुट चूर्ण बन रहे प्रतिच्छवि कितनी साथ लिये बिखरे !
वह अनुराग हँसी दुलार की पंक्ति चली सोने तम में,
वर्षा विरह कुहू में जलते स्मृति के जुगनू डरे डरे॥

सूने गिरि पथ में गुञ्जारित शृंगनाद की ध्वनि चलती,
आकांक्षा लहरी दुख-तटिनी-पुलिन-अंक में थी ढलती।
जले दीप नभ के, अभिलाषा शलभ उड़े, उस ओर चले,
भरा रह गया आँखों में जल बुझी न वह ज्वाला जलती॥

"माँ"—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी !

"कहाँ रहा नटखट ! तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना !
अरे पिता के प्रतिनिधि, तूने भी सुख-दुख तो दिया घना।
चंचल तू, बनचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कहीं,
मैं डरती तू रूठ न जाये करती कैसे तुझे मना !"

"मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं।
पके फलों से पेट भरा है नींद नहीं खुलनेवाली,"
श्रद्धा चुंबन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद में भरी रही॥

जल उठते हैं लघु जीवन के मधुर-मधुर वे पल हलके,
मुक्त उदास गगन के उर में छाले बन कर जा झलके।
दिवा-श्रांत आलोक-रश्मियाँ नील निलय में छिपी कहीं,
करुण वही स्वर फिर उस संसृति में बह जाता है गल के॥

प्रणय किरण का कोमल बन्धन मुक्ति बना बढ़ता जाता,
दूर, किन्तु कितना प्रतिपल वह हृदय समीप हुआ जाता !
मधुर चाँदनी-सी तन्द्रा जब फैली मूर्च्छित मानस पर,
तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमें अपना चित्र बना जाता !

कामायनी सकल अपना सुख स्वप्न बना-सा देख रही,
युग-युग की वह विकल प्रतारित मिटी हुई बन लेख रही।
जो कुसुमों के कोमल दल से कभी पवन पर अंकित था,
आज पपीहा के पुकार-सी नभ में खिंचती रेख रही॥

१९३६

❀ ❀ ❀

श्री सियारामशरण गुप्त

श्रीराघव-विलाप

('मेघनाद-वध' के आधार पर)

निशि-समय नित्य कुटीर-द्वारे धनुष को धारण किये—
जग कर तुम्हीं ने तो हमें बन में सभी सुख थे दिये॥
फिर आज हे लक्ष्मण धनुर्धर ! भूल क्यों हम को रहे—
इस दुःखरूपी सिन्धु में हम जा रहे हैं जब बहे॥१॥

इस रिपु-नगर में पा रहे हैं आज हम दुस्सह व्यथा,
पर हाय ! तुम यों सो रहे हो भूल हम को सर्वथा !
अब तुम बिना इस घोर दुख में कौन रक्षक है अहो,
है क्या यही तुम को उचित ? हे वीर वर ! कुछ तो कहो॥२॥

माना नहीं तुम ने कहाँ इस बन्धु के आदेश को?
फिर आज उठ कर क्यों नहीं हरते हमारे क्लेश को।।
दुर्भाग्य से यदि आज तुमने है हमें तजही दिया,
पर कौन सा अपराध हा! सीता अभागी ने किया।।३।।

सौमित्र देवर को सदा वह शत्रु-कारागार में——
है स्मरण करती मग्न हो कर दुःख-पारावार में।
बहु राक्षसी हैं त्रास देतीं हा! उसे वेष्टित किये,
ऐसे समय तुम को उसे क्या भूल जाना चाहिए?।।४।।

माता-सदृश सम्मान जिस को है सदा तुम ने दिया,
तव कुल-वधू उस जानकी को बद्ध है जिस ने किया।
उस दस्यु पामर को समर में योग्य दण्ड बिना दिये,
क्यों सो रहे हो हाय! तुम निश्चिन्त यों होकर हिये।।५।।

हे वीरबाहो! तुम समर में अग्नि-सम दुर्वार हो,
यह नींद त्याग, तुम हमारे प्राण के आधार हो।
बलहीन चक्र-विहीन रथ में है रथी होता यथा,
त्यों ही अबल हम हो रहे हैं तुम बिना अब सर्वथा।।६।।

हा! इस तुम्हारी नींद से गुण-हीन धनु के तुल्य ही,
मारुत-तनय हनुमान की निर्बल अवस्था हो रही।
अंगद तथा सुग्रीव सन्मति क्लेश से हैं रो रहे;
देखो, शुभैषी ये विभीषण धैर्य्य को हैं खो रहे।।७।।

ऋतुराज के प्रस्थान से होता विपिन ज्यों व्यस्त है,
त्योंही सबल यह दल सभी हा! तुम बिना अति त्रस्त है
ऐसे समय की नींद है यह वांछनीय नहीं कभी;
उठकर नयन शीतल करो भाई! त्वरा करके अभी।।८।।

दुर्दान्त रण से क्लान्त अब तुम हो गये हो जो कहीं,
तो लौट फिर वन को चलो कुछ काम है रण का नहीं।
तव प्राप्ति का सीता अभागी! अब नहीं कुछ काज है,
अति तुच्छ, लक्ष्मण के बिना, हम को जगत का राज है।।९।।

"राघव! तवानुज मम नयनमणि है कहाँ लक्ष्मण कहो?"
सुन जननि से यह बात हम उन से कहेंगे क्या अहो!
हे वत्स! उठकर शीघ्र ही अन्तःकरण शीतल करो
हैं शत्रु गर्जन कर रहे जो गर्व सब उन का हरो।।१०।।

तुम को न लेकर साथ हम साकेत में जब जायँगे
तब उर्म्मिलायुत पुरजनों को किस तरह समझायँगे?
माँ तुम बिना अवलोक हम को हाय! रोवेंगी यदा,
लक्ष्मण! उन्हें हम किस तरह यह मुख दिखावेंगे तदा।।११।।

तज राज्य-सुख जिसके लिए वनवास है तुमने लिया
उस बन्धु के अनुरोध से अब क्यों विमुख मन कर लिया?
हे वीरबाहो, भ्रातृवत्सल! विदित हो तुम लोक में
क्या त्यक्त होना चाहिए तुम से हमें इस शोक में।।१२।।

तुम देखकर हमको दुःखी आँसू बहाते थे सदा,
आपत्ति में तुम ही हमें धीरज बँधाते थे सदा।
हैं हो रहे हम आँसुओं से आज आर्द्र शरीर यों
तुम देखते तक हो नहीं हम को तदपि हे धीर क्यों?।।१३।।

आजन्म हम ने धर्म्मयुत सप्रेम सुर-पूजन किया,
है क्या उन्हों ने अब यही उसका हमें प्रतिफल दिया!
तुम ओस से हे निशि! सरस करतीं तपाकुल फूल को,
यह कुसुम भी विकसित करो मेटो हमारे शूल को।।१४।।

तुमको 'सुधानिधि' हे निशाकर! मनुज कहते हैं सभी,
अतएव जीवनदायिनी तुम सुधा बरसा कर अभी।
सच्चरित लक्ष्मण को बचाओ सदय होकर शीघ्र ही
जिससे बचे यह दीन राघव है विनय तुम से यही।।१५।।

१९१२

❀ ❀ ❀

श्री गोपालशरणसिंह

(१) ग्रन्थ

हे ग्रन्थ सदा तुम धन्य धन्य!
है तुम सा जग में कौन अन्य?
उपकार करें जो यों अनेक,
चाहें नहिं प्रत्युपकार एक।।१।।

अनुभव जग का होता विलीन,
रहते हम सब विद्या-विहीन।
रहता असभ्य सब जन-समाज,
होते सुग्रन्थ यदि तुम न आज।।२।।

नीतिज्ञ कर्मकारी अनेक।
वेदान्त-शास्त्र-धारी अनेक,
विज्ञानवान जितने विशेष
हैं तव प्रसाद ये सब अशेष ।।३।।

पढ़ कर तुमको कर्त्तव्य-ज्ञान
होता है सुखदायक महान।
मिलती शिक्षा तुमसे अमोल,
तुम देते सब का नेत्र खोल ।।४।।

हैं लाखों जग में शुभ पदार्थ
यद्यपि मनुष्य के मोदनार्थ।
पर है न एक भी वस्तु अन्य
जो देती तुम सा सुख अनन्य ।।५।।

क्या पाप-पुण्य कर्त्तव्य - कर्म,
क्या धर्म-सार, क्या नीति-मर्म्म।
बातें सब ये तुम से विचित्र
होती हैं ज्ञात सदैव मित्र।।६।।

आपत्ति में बान्धव-बन्धु सारे
दें छोड़ चाहे, मन स्वार्थ धारे।
सद्भाव सन्मित्र सदा हमारे
होते नहीं भिन्न कभी तुम्हारे।।७।।

सेवा किसी की जग में न भाती
है दुःखदायी वह सर्व भाँति।
आनन्द होता पर क्या न भारी
हे ग्रन्थ सेवा कर के तुम्हारी ।।८।।

हे ग्रन्थ ! वे नर सदा जग बीच धन्य
जो प्रेम नित्य रखते तुम से अनन्य।
आपत्ति से तुम उन्हें सहसा छुड़ाते;
दे ज्ञान-चक्षु उनको अघ से बचाते।।९।।

पूर्वापरस्थिति सदैव तुम्हीं बताते;
सन्मार्ग मोद-कर नित्य तुम्हीं दिखाते।
वे ही यथार्थ सुख-शान्ति समूह पाते
जो प्रेम-पूर्वक तुम्हें पढ़ते पढ़ाते ।।१०।।

१९१२

(२) नवीन युग

अणु बम का युग आया!
लघु कण ने निज गुप्त शक्ति का
भीषण रूप दिखाया।

क्षण भंगुर है जग जीवन यह
विद्या-बल-वैभव का संग्रह,
अणु सत्ता ने सब मनुजों को
इसका स्मरण दिलाया।

क्षणिक विभव में फूल न जाना
प्रेम दया को भूल न जाना,
यह विशेष सन्देश विश्व में
यह नवीन युग लाया।

युद्ध-नीति है परम भयंकर
शान्ति-साधना है श्रेयस्कर,
घोषित है कर रही धरा में
यह विनाश की छाया।

है यह विश्व सदा मंगलमय
पर है यहाँ नाश का भी भय
यह कटु सत्य कभी जीवन में
जा सकता न भुलाया।

भ्रातृ-भाव हो यदि मानव में
तो कुछ भीति नहीं है भव में
इसका समुचित अर्थ विश्व यह
आज समझ है पाया।

१९५८

❀ ❀ ❀

पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी

षोडशोपचार पूजा

व्यापक है जो विश्व में जगदाधार पवित्र।
उसका आवाहन कहाँ किया जाय हे मित्र?॥१॥
जड़-जंगम सब जगत को जिसका ही आधार।
आसन उसको दें कहाँ? सूझे नहीं विचार॥२॥
स्वच्छ निरंजन निरामय है जो सभी प्रकार।
कहो उसे क्यों चाहिए अर्घ्यपाद्य की धार?॥३॥
जो स्वाभाविक शुद्ध है, जो निर्मल भगवान।
स्नान और आचमन का क्यों चाहिए विधान?॥४॥
भरा हुआ है उदर में जिसके यह ब्रह्माण्ड।
फिर क्यों आवश्यक उसे तुच्छ वस्त्र का खण्ड॥५॥
जाना जा सकता नहीं जिसका कुछ आकार।
पहनावें कैसे उसे यज्ञ-सूत्र का हार?॥६॥
सुन्दरता का हेतु जो, जो जीवन-आधार।
कहो उसे क्यों चाहिए अलंकार-उपहार?॥७॥
जिसे नहीं है वासना जो सब विधि निर्लेप।
पुष्पवास क्यों चाहिए, क्यों चन्दन का लेप?॥८॥
जो विश्वम्भर तृप्त है परिपूरण सब काल।
हैं उसके किस काम के नैवेद्यों के थाल?॥९॥
जो स्वामी त्रैलोक्य की सम्पति का है एक।
उसे दक्षिणा की भला कहो कौन है टेक?॥१०॥
नहीं जान पड़ता कहीं जिसका पारावार।
कैसे करें प्रदक्षिणा उस अनन्त की यार?॥११॥
अद्वय जो सर्वेश है नहीं स्वरूप न नाम।
नहीं समझ पड़ता करें कैसे उसे प्रणाम?॥१२॥
जिसके गुण गाते हुए वेद हुए हैं मौन।
उसका कीर्तन जगत में कर सकता है कौन?॥१३॥
पाते हैं रवि, शशि, अनल जिससे प्रखर प्रकाश।
कहो उसी को कहाँ से लावें दीप-उजास?॥१४॥
भीतर-बाहर पूर्ण है जिसका रूप अनूप।
करें विसर्जन हम कहाँ उसका वही स्वरूप?॥१५॥
पूजा के ये देखिये हैं षोडश उपचार।
प्यारे पाठक! कीजिए इनका खूब विचार॥१६॥

१९१३

❀ ❀ ❀

बा० पारसनाथसिंह

(१) प्रश्नोत्तर

(रवीन्द्र बाबू के बँगला से)

बालक की आँखों पर आकर,
लेती जो निद्रा विश्राम।
विदित किसी को क्या है, जग में,
उस देवी का पावन धाम?
निर्जन वन है कोई, होता
जहाँ सदा खद्योत-प्रकाश।
किसी पुष्प की दो कलियों के
बीच वहीं है उसका वास॥
बालक के ओठों पर जब तब
देखी जाती जो मुसकान।
बतलावेगा कोई मुझको
उसके उद्गम का संस्थान!
बाल शशी की किरण हुई थी
जाकर शरन्मेघ में लीन।
जहाँ, वहीं पर, सबसे पहले,
उपजी वह मुसकान नवीन।
सो ले विदा निज-धाम से——
निद्रा जगत् में घूमती!
और, यह मुसकान आकर
ओठ सुन्दर चूमती!

१९१४

(२) बुद्ध-जन्म

(The Light of Asia का अनुवाद)

"माया" के प्रासाद-भवन में सीधा ध्वजा-समान
था पलाश का तरुवर कोई, विस्तृत और महान
चिकने पत्रों और सुवासित पुष्पों से आच्छन्न
शीर्षभाग जिसका शोभा से था अतिशय सम्पन्न !
एक दिवस मध्याह्न-काल में, बीते जब नौ मास,
आकर खड़ी हुई वह देवी नीचे उसके पास--
वहाँ सभी की भाँति जान कर समय-प्राप्ति का हाल,
वृक्ष झुका तरुओं से मण्डप रचने को तत्काल !
सहसा बहु पुष्पों की भू ने की शय्या तैयार
और स्नान करने को गिरि ने दी निर्मल जलधार !
ज्योंही पुत्र जना 'माया' ने, हुआ न कोई क्लेश
अति शुभ चिह्न बाल के तन पर थे बत्तीस विशेष
शिशु का भार वहन करने को आ पहुँचा दिक् पाल
और पालकी में रख उसको पहुँचाया तत्काल
राजसदन में, उन्हें खुशी थी, खुश था यह संसार,
क्योंकि लिया था बुद्ध-देव ने आज मनुज-अवतार

× × ×

शिशु-दर्शन के अभिलाषी बहु आये नृप के द्वार
किन्तु बड़ा विस्मयकारी था वृद्ध 'असित' का आना !
तप में सुख स्वर्गीय प्राप्त वह करते, तज संसार
बुद्ध-जन्म का हाल उन्होंने दिव्य ज्ञान से जाना !
पुण्य-पुंज को देख सामने नृप ने किया प्रणाम,
शिशु को उनके पद-पद्मों पर रखने आयी रानी
कहा 'असित' ने--"पापी हूँगा मैं, मत कर यह काम"
और भूमि को आठ बार छू बोले फिर वे ज्ञानी--

"हों प्रणाम स्वीकार--आप हैं हे शिशुवर ! जगदीश
हस्त-पाद सारे अंगों से पूरा परिचय पाता,
मुख पर छटा निराली--तन पर चिह्न मुख्य बत्तीस
गौण चिह्न अस्सी--बस सब कुछ साफ नजर है आता !
आप बुद्ध हैं, बड़े भाग्य से आये, अब यह लोक
धर्म्ममार्ग पर आकर अपना त्राण दुखों से पावे--
मैं समाधि लूँगा अब जल्दी--बस इसका ही शोक !
पर कृतकृत्य हुआ दर्शन कर, मौत खुशी से आवे !
राजन् ! अपने पुत्ररत्न को वही पुष्प लो जान
जो है मानव-वंश-वृक्ष में कई युगों पर खिलता,
किन्तु ज्ञान-परिमल जो खिल कर, जग को करता दान
और मनुज-मधुपों को जिससे शुद्ध प्रेममधु मिलता !
यह कुल-कमल देख तुम पाओ सुख-यद्यपि नरपाल !
होगा खड्गाघात तुम्हें इस सुत के कारण पाना,
और सात दिन में रानी को, तज जग का जंजाल
बिदा ग्रहण कर शिशु से होगा देव-लोक को जाना !"
आर्ष वचन था सत्य ही,--बीते जब दिन सात--
रानी के सम्बन्ध की आ बीती वह बात !
"माया" सोई सेज पर--सकी न पर फिर जाग,
'त्रयस्त्रिंशस्स्वर्ग' को गई देह वह त्याग !
जिसकी जननी का वहाँ करते सुर उपचार
'महाप्रजापति' पर पड़ा यहाँ उसी का भार !
पले और वह पान कर इस देवी का दुग्ध,
जिनकी वाणी ने किया तीन लोक को मुग्ध !

१९२०

❀ ❀ ❀

पं० गयाप्रसाद शुक्ल, सनेही

दहेज की कुप्रथा

पत्थर से दिल हुए हमारे नहीं पिघलते,
कन्यायें थक रहीं आग में जलते जलते।
शुष्कहृदय हैं हाय ! अश्रु भी नहीं निकलते,
हम ऐसे खल हुए, नहीं ऐसे दुख खलते।

पातीं पावन प्रेम-पाथ प्यारे फल फलतीं।
क्यों वनाग्नि में स्नेहलता सी बेलें जलतीं।।
यह दहेज की आग सुवंशों ने दहकाई,
प्रलय-वह्नि सी वही आज चारों दिशि धाई।

घर उजाड़ बन बना रही, कर रही सफाई,
ताप रहे हम मुदित, समझते होली आई।
खबर न इसकी हमें, खूब ही धूल उड़ेगी।
विकट लपट कर भस्म हमें आमूल, उड़ेगी॥
स्वत्व स्वत्व चिल्लायँ न घर हम अपना देखें,
रहें झोपड़ी-मध्य महल का सपना देखें।
वज्र-हृदय हो जायँ न द्रवें, विलपना देखें,
कन्याओं का ताप-पुंज में तपना देखें।
हों असभ्य या सभ्य कहीं यों अधम न होंगे।
महादुष्ट हों, किन्तु, नहीं, यों अधम न होंगे॥
शिक्षित भी बन गये, सभ्य भी हैं कहलाते,
बने सुधारक कभी सभापति भी बन जाते।
करते हुए कुकृत्य नहीं जी में शरमाते,
हो जो पुत्र-विवाह हजारों ही ठहराते।
मिले मुनासिब मोल तभी होते हैं राज़ी।
तुर्की कोई पुत्र बना कोई है ताज़ी॥
धन्य धन्य है धन्य परस्पर नाता ऐसा,
और देश में प्रेम-पन्थ कब भाता ऐसा।
गिना चले व्यवहार खोल कर खाता ऐसा,
किससे यों कुल-नियम निबाहा जाता ऐसा।
शक्ति और तो हाय न हम में खाक रही है।
कटती जिससे नाक उसी में नाक रही है॥
अड़ी कहाँ इस दुष्ट प्रथा की टाँग नहीं है,
द्रव्य छोड़कर और गुणों की माँग नहीं है।
घर का है यह हाल कि भूनी भाँग नहीं है,
"आर्म्स ऐक्ट" से हाय घरों में साँग नहीं है।
पति से मिलता नहीं उसी से मिलता सीना।
कन्याओं का हाय न होता दूभर जीना॥
कहते हैं सब लोग "जवानी दीवानी है",
देखें क्या क्या हाय व्यथा सिर पर आनी है।
अन्धी इनमें नहीं न तो कोई कानी है,
फिर भी दुष्ट दहेज-प्रथा से हैरानी है।
दीनबन्धु अब एक आसरा रहा तुम्हारा।
कर दो हा हा नाथ किसी विधि से निपटारा॥
या तो करके कृपा कुलीनों में कन्यायें,
दयासिन्धु दुखदलन यहाँ पर मत जन्मायें।
जन्में तो दो चार वर्ष ही में मर जायें,
सहने को यों व्यथा जवान न होने पायें।
या युवकों के चित्त मध्य यह बात बिठा दें।
वे दहेज की महा घृणित दुष्प्रथा उठा दें॥

१९१४

❀ ❀ ❀

श्री हीरा डोम, पटना

अछूत की शिकायत [प्राप्त]

(भोजपुरी भाषा में)

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी,
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवनओं न देखताजे
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
पदरी सहेब के कचहरी में जाइबिजां;
बेधरम होके रंगरेज बनि जाइबि।
हाय राम! धरम न छोड़त बनत बाजे,
बे धरम होके कैसे मुहंवा देखाइबि॥१॥
खंभवा के फारि पहलाद के बंचवले जां,
ग्राह के मुहें से गजराज के बचवले।
धोतीं जुरजोधना कै भइआ छोरत रहै,
परगट होके तहाँ कपड़ा बढ़वले।
मरले रवनवाँ के पलले भभिखना के,
कानी अँगुरी पै धैके पथरा उठवले।
कहंवा सुतल बाटे सुनत न बाटे अब,
डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले॥२॥

हमनी के राति दिन मेहनत करीलेजां,
दुइगो रुपयवा दरमहा में पाइबि।
ठकुरे के सुखसेत घर में सुतल बानीं,
हमनी के जोति जोति खेतिया कमाइबि।
हकिमे कै लसकरि उतरल बानीं,
जेत उहओं बेगरिया में पकरल जाइबि।
मुँह बान्हि ऐसन नोकरिया करत बानीं,
ई कुलि खबरि सरकार के सुनाइबि।।३।।
बभने के लेखे हम भिखिया न मांगबजां,
ठकुरे के लेखे नाहिं लउरि चलाइबि।
सहुआ के लेखे नहिं डांड़ी हम मारबजां,
अहिरा के लेखे नहि गइया चोराइबि।
भटंऊ के लेखे न कबित्त हम जोरबजां,
पगड़ी न बान्हि के कचहरी में जाइबि।
अपने पसिनवा कै पइसा कमाइबजां,
घर भर मिलि जुलि बांटि चोंटि खाइबि।।४।।
हड़वा मसुइया कै देहियां है हमनी कै,
ओकरै के देहियां बभनओं कै बानीं।
ओकरा कै घरे घरे पुजवा होखत बाजे,
सगरै इलकवा भइलैं जजमानी।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइलेजां,
पांके में से भरि भरि पिअतानी पानी।
पनहीं से पिटि पिटि हाथ गोड़ तुरि दैलैं
हमनी के एतनी काही के हलकानी? ।।५।।

१९१४

❀ ❀ ❀

पं० केशवप्रसाद मिश्र

जाड़ा और निर्धन

पाला, कुहरा, ओस, बर्फ सब मिलकर गिरते हैं अविराम;
ठण्ढी हवा सबेरे-सन्ध्या मिटा रही गर्मी का नाम।
पानी पीने से गलते हैं दाँत, नहाना है संग्राम;
हाथ पैर ठिठरे जाते हैं होकर सुन्न और बेकाम।।१।।

बाबू लोग डाटकर स्वेटर, शर्ट, वेस्ट, गेटिस, पतलून,
ओवर-कोट, कोट, कम्फर्टर, कैप आदि गुडलक (Goodluck) के बून (Boon)
पैरों में पहने हैं मोजे हाथों में दस्ताने गर्म।
ऐसे अवसर पर भी मानों मिटा रहे जाड़े का धर्म।।२।।

बाहर से कपड़ों के मारे रही आज-कल सर्दी ऊब;
काफी, कोको, चाय-पान से भरी उष्णता भीतर खूब।
मुख-पंकज शोभित होता है धर कर धूँआँधार सिगार (Cigar)
दुनिया जाय जहन्नुम में फिर उसकी उनको क्या दरकार।।३।।

पढ़े-लिखे जो कहलाते हैं, अन्धों में जो कानेराज;
शिक्षित होने का घमण्ड है जिन्हें, बने हैं जो सिरताज।
उनकी दशा आपने देखी--अब देखिए दूसरी ओर;
किन्तु आपको करना होगा अब कुछ अपना हृदय कठोर।।४।।

सौ में सत्तर इस भारत में विद्यमान हैं निर्धन दीन;
भोजन तक जिनको दुर्लभ है, और कथा है अवसर-हीन।
एक ओर ऐसा जाड़ा है पड़ा दूसरी ओर अकाल;
किसका हृदय न काँप उठेगा हाय! याद कर उनका हाल।।५।।

सिर पर लदा घास का बोझा तन पर नहीं एक भी सूत;
हाय! हाय! कम्पित होता है जाड़े से भारत का पूत।
छोटे छोटे बच्चे घर पर देख रहे हैं उसकी बाट;
किन्तु आज वह दुःखित लौटा, विफल हुई है उसकी हाट।।६।।

धीरे धीरे निशा राक्षसी लगी जमाने अपना रंग;
शीतल पवन चला सन सन कर लगे काँपने सारे अंग।
रोते हैं बच्चे बेचारे भूख और जाड़े से तंग;
ईश्वर छोड़ नहीं कोई है देने वाला उनका संग।।७।।

एक दरिद्र कृषक है जिसने किया खेत में दिन भर काम;
किन्तु पेट भर रोटी मिलना उसको है जय सीताराम।
आशा-वश हो वही खेत की रखवाली करता है रात;
इस जाड़े में वही बतावे अपने दुख की सारी बात।।८।।

विधवा एक अनाथ पड़ी है, लिये एक बच्चे को गोद;
उसके लिए दु:ख ही दु:ख है नहीं लेश भर भी आमोद।
शीत-निशा में विकल बाल पर आँचल अपना रही पसार,
किन्तु खेद है वसन नहीं—हो जिससे दोनों का निस्तार ।।९।।

इनकी दु:ख-कथा लम्बी है और लेखनी है असमर्थ;
इससे उसका कुछ भी आगे बढ़ना है नितान्त ही व्यर्थ।
जिनके आश्रय पर हम जीयें खायें हर कर जिनका भाग
उनके लिए न कुछ भी करना क्या अच्छा स्वदेश-अनुराग ।।१०।

१९१५

❀ ❀ ❀

श्री महादेवप्रसाद सेठ

हमारे सामने

आह ! प्रियतम इस तरह किस ध्यान में—
हो खड़े ? बैठो धरा क्या मान में ।।१।।
पूछते हो क्या कि हम दोषी नहीं—
हाँ ! नहीं दोषी हम अपनी जान में ।।२।।
भक्त हैं हम या नहीं हैं जाँच लो
भेद सब खुल जायगा इक आन में ।।३।।
व्यर्थ कहते हो नहीं हम क्रुद्ध हैं,
आज हो तुम और ही सामान में ।।४।।
भक्ति में भी शक्ति होती है बड़ी,
मत रहो भूले तुम अपनी शान में ।।५।।

क्यों भला यह किस लिए संकोच है ?
दोष क्या है प्रेम के इस पान में ।।६।।
हाँ करो अभिमान लेकिन सोच लो,
मर न जायें हम कहीं इस मान में ।।७।।
सच कहो, मिलता है क्या तुमको मजा ?
निर्दयी निष्ठुर हठीली बान में ।।८।।
हाँ सखे ! हमको दिखा दो तो वही,
गोपियाँ मोहीं थीं जिस मुसकान में ।।९।।
क्यों सखे करते हो तुम हमको निराश,
क्या धरा है इस जरा से दान में ।।१०।।

चाहते हम कुछ नहीं इसके सिवाय,
तुम जरा हँस दो हमारे सामने ।।११।।

१९१५

❀ ❀ ❀

श्रीयुत राय कृष्णदास

शुभ काल

क्या यह न्योता तेरा है ?
प्रेम-निमन्त्रण मेरा है ?
इसकी अवहेला क्या मुझसे,
हो सकती है भला कभी।

गाओ सब मंगल गाओ।
सुमन-अंजली बरसाओ।
यह अति अहोभाग्य है मेरा,
हुई नाथ की कृपा तभी।।

सब कामों को छोड़ूँगा
पर न यहाँ मुँह मोड़ूँगा।
क्योंकि चरण-सेवा तेरी है—
इस जीवन की साध सभी।

इच्छा के गिरि गिरा गिरा
कर निज मार्ग प्रशस्त निरा।
प्राणेश्वर के पद-पद्मों में
पहुँचा बस मैं अभी अभी॥

१९१७

❀ ❀ ❀

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

तारा

देख कर हँसता हाल हमारा॥
हमने अपनी दशा सोच कर वारंवार विचारा॥
इस विस्तीर्ण गगन-मण्डल का एक परम लघु तारा।
अगणित तारा-गण में यद्यपि छुपा रहा बेचारा॥
फिर भी कुसमय-कुहू-निशा में दूना बल तन धारा।
लेकर* कर-शर कर में उसने खींच तिमिर-अरि मारा॥

अपने बल-पौरुष से अपना किया बुलन्द सितारा।
कभी सहस्र-किरण के आगे अपना कर न पसारा॥
रहा स्वतन्त्र, स्वावलम्बी वह यद्यपि रहा न न्यारा।
प्रेमाकर्षण से मित्रों के फिरा न मारा मारा॥

१९१८

*किरण

(२) मुझसे बोले उत्तुंग शृंग वाले पर्वत

(१)

मुझसे बोले उत्तुंग शृंग वाले पर्वत;
मुझसे बोला सुन-सान ध्यानमय नील गगन;
मुझसे बोली मेदिनी स्वेदिनी नेह भरी;
मुझसे बोला सन-सनन-गमनमय मलय पवन;

(२)

कण-कण, अणु-अणु बोला; बोली लहरोंवाली—
यह सतरंगी साड़ी पहने उज्वाल किरण;
ये तुहिन बिन्दु बोले; औ' यह पूर्णेन्दुमथित—
गम्भीर सिन्धु मुझसे बोला गम्भीर वचन;

(३)

सब एक संग ही पूछ उठे बस एक बात;
"मानव, तू राग-रंग में रँगा हुआ प्राणी,
तू क्षण-भंगुर, तू धरापुत्र अस्नात निरा,
फिर भी क्यों तेरी शुद्ध अमरता की वाणी?

(४)

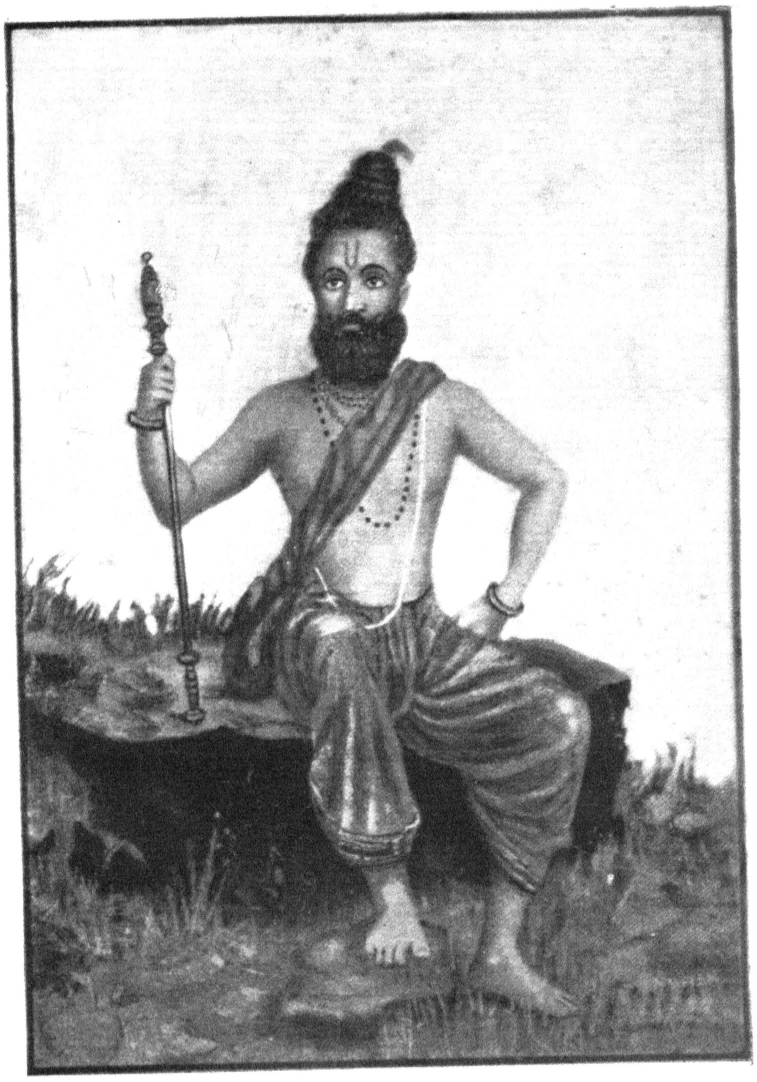
"तू तिमिर काल, तू मोह जाल, तू क्रोध-ज्वाल,
तेरे द्वित्रिंश रद हिंस्र रक्त से रंजित हैं;
तेरे ललाट पर सहस्राब्दियों के कुकर्म—
औ' प्रतिहिंसाओं की गाथाएँ अंकित हैं।

(५)

"तू ध्वान्त रूप, फिर भी तू कहता है कि सुनो;
जीवन तो है प्रकाश का पुंजीभूत नाम;
तू मोह-मंत्र, फिर भी तू कहता है निज से:
बस मोह-विमोचन ही तो है जीवनोद्दाम!

(६)

"तू क्रोधानल, पर है तेरा अक्रोध ध्येय,
तू हिंसा-प्रतिहिंसारत, फिर भी कहता है—
कि अहिंसा ही है जीवन का उन्नयन-दण्ड
मानव, क्या तू दिन रात द्विधा में रहता है?"



परशुराम

(चित्रकार––राजा रवि वर्मा) [१६०८



गोवर्द्धनधारण

(प्राचीन चित्र) [१९१०

(७)
उनकी बातें सुन मैं कम्पन-अभिभूत हुआ;
उनकी बातें सुन मैं गहरे में डूब गया;
क्या उत्तर दूँ? यह सोच-सोच मनही मन में—
मैं कुछ निमिषों को अपने ही से ऊब गया।

(८)
"हे तुंग-शृंग-वाले गिरिवर, हिमजटित, शुभ्र!
हे अगणित-तारक-जटित, अनन्त सुनील गगन!
हे पृथिवी माता, सतत नेह-भरिता, हरिता!
हे मलय पवन! हे किरण! और हे अणु-कण-कण!

(९)
"क्या उत्तर दूँ तुमको कि कौन मैं प्राणी हूँ?
तुम सब की गोदी में विचरण करनेवाला—
मैं क्या हूँ? कैसा हूँ? यह कैसे समझाऊँ?
मैं कौन, तुम्हारे संशय को हरनेवाला?

(१०)
"फिर भी, जो पूछ रहे हो तो मेरी सुन लो—
मैं कौन? स्वयं हूँ एक प्रश्न मैं अनुत्तरित;
मैं ऐसी पृच्छा नहीं कि जो हो जाती है—
यद्वा, तद्वा को सुनकर यों ही तुष्ट त्वरित।

(११)
"मैं एक पहेली हूँ; पर, यों हूँ, सहज गम्य;
मैं एक प्रश्न हूँ औ' अनेक उत्तर भी हूँ;
मैं गो-पद-गंगा हूँ; पर, यों हूँ गहनसिन्धु;
मैं सहज सन्तरण-शील; किन्तु, दुस्तर भी हूँ।

(१२)
"मैं चमत्कार हूँ; सुनो, सुनो, वह चमत्कार,—
जिसने तुम सबको डाल रखा है चक्कर में;
मैं हूँ वह विद्युत्-गतियुत पुंजीभूत मेरु
जो क्षार कर सके तुम्हें एक ही टक्कर में।

(१३)
"पर, यह मत सोचो कि तुम और मैं भिन्न-भिन्न;
हम दोनों हैं विस्तार एक लीलामय के;
लीलामय ऐसा जो कि छिपा हम दोनों में;
हम दोनों तत्त्व ढूंढ़ते जिसके आशय के।

(१४)
"शत लक्षाब्दियाँ अतीत गर्भ में पैठ चुकीं;
वे कालदेव भी करते-करते काल कलित,—
थक गये। किन्तु पा सके न उसका भेद रंच;
हो सका न उनका श्रम अब तक भी तनिक फलित।

(१५)
"यह दिग्विस्तार, अनादि-अन्त ताने वितान,—
करता है अपनी वितति कि उस तक पहुँच सके;
पर, वह मायापति परे-परे ही रहता है;
दिक्-काल सहोदर दोनों उसको ढूँढ़ थके।

(१६)
"जब अपरा माया के ये दो अति सूक्ष्म रूप—
दिक्-काल—पा सके रंच न उस लीलारत को,—
तब नभ गंगा, तारक मण्डल—ये स्थूल रूप—
क्या पायेंगे उस अलख, असीम विधाता को?

(१७)
"पर, अपरा-परा-प्रकृति के हे सब रूप, सुनो,—
मैं द्विपद-द्विभुज वाला हूँ वह आश्चर्य महत्—
जो सहस्राब्दियों से रत है चिर चिन्तन में;
जो जान सका है तत्त्व सत्यमय और असत्।

(१८)
"क्षर, अक्षर; आदि, अनादि; क्षणिक औ' स्थायी का
दुर्भेद्य भेद जो जान सका है, वह, मैं हूँ;
चल कर शत-शत मन्वन्तर की पगडंडी पर—
जो रंचमात्र भी नहीं थका है, वह, मैं हूँ।

(१९)
"क्षणभंगुर देह धरे हूँ, किन्तु चिरन्तन से—
जिसने अपना नाता जोड़ा है, वह मैं हूँ;
सीमा-बन्धन को निःसीमा के झटके से—
जिसने अहर्निशि जगकर तोड़ा है, वह मैं हूँ।

(२०)
"मत समझो मुझको केवल दो नयनोंवाला;
मैं हूँ अनन्त शशि-सूर्य-रूप अनगणित नयन;
कहता है कौन कि मैं हूँ केवल द्विपद-द्विभुज;
मैं चिर अथकित मैं अनमित शीश, अनन्त चरण।

(२१)

"हे जगड्वाल, तुमने पूछी है एक बात :
मैं मानव, राग-रंग में रँगा हुआ प्राणी;
मैं क्षणभंगुर, मैं धरा-पुत्र अस्नात निरा;
फिर भी क्यों मेरी शुद्ध अमरता की वाणी ?

(२२)

"निश्चय, मैं राग-रंग में रँगा हुआ प्राणी,
निश्चय ही मैं हूँ धरापुत्र अस्नात निरा,
पर, क्या तुमको यह बात नहीं है ज्ञात, मित्र,
मेरी माटी में बसी अमरता की मदिरा ?

(२३)

"उस आदि काल-निर्माण-क्षणों में, जब मेरे––
रज-कण थे गूंधे गये किसी अद्‌भुत द्रव से,––
बस, उसी समय से मेरे स्नायु-तन्तु अगणित––
झंकृत हैं सच्चिन्मयी अमरता के रव से।

(२४)

"मैं राग-रंग-रंजित हूँ; मैं क्षण-भंगुर हूँ;
यों तो माटी-कण निर्मित हूँ मैं भूमि-पुत्र;
पर, वास्तव में वह गहर अमर मदिरार्णव हूँ––
जिसका है एक कूल 'इह' दूजा है 'अमुत्र'।

(२५)

"तुम बोले : मेरे दन्त रक्त से रंजित हैं;
मैं तिमिर-काल, मैं मोह-जाल, मैं क्रोध-ज्वाल;
मेरी ललाट-रेखाओं पर शत हिंस्र-कर्म––
टेढ़े-मेढ़े फैले हैं, जैसे क्रुद्ध व्याल।

(२६)

"यह सब कुछ है। पर, यह तो मानो, अहो मीत,
मुझमें रागों के वशीकरण की क्षमता है;
निश्चय ही व्याल-वसित है भाल-देश मेरा;
पर, मुझमें उनके गरल-हरण की क्षमता है।

(२७)

"इतना समझो कि बँधा हूँ; फिर भी हूँ विमुक्त;
मेरे बन्धन-खण्डन की कथा पुरानी है;
मेरी दोलाचल-वृत्ति, और, दृढ़ निश्चितता,
मेरी पीड़ा औ' मेरी व्यथा पुरानी है।"

१९५६

(३) कहो, कब हो सकेगा दग्ध यह जीवन सजल सावन ?

(१)

तुम्हारा मौन अर्पण भर रहा झंकार प्राणों में,
तुम्हारी स्पर्श-सुधि शोणित कणों में भर रही कम्पन;
तुम्हारी वचन-स्मृति करती तरंगित श्वास में लहरें;
तुम्हारे नयन-जल-कण झर रहे हैं स्मरण में क्षण-क्षण।

(२)

उतर आई गगन से चन्द्रिका जब अंक में मेरे––
चमक उट्ठा निरानन्दित, तमिस्राक्रान्त जीवन-वन;
तुम्हारी एक ही निःश्वास ने इस काष्ठ-वंशी में––
अयाचित ही भरे हैं भिन्न रागों के अनेकों स्वन।

(३)

अनिंगित नेह-दीपक दे, तुम्हें भेजा, कहो, किसने ?
किधर से आ पधारीं, प्राण, तुम करती सहज विचरण ?
तुम्हारी वर्त्तिका के चतुर्दिक मँडला रहा है जो––
शलभवत्, समर्पण-उत्सुक, वही तो है निरत मम मन।

(४)

अमल जल से भरे बादल घिरे थे वक्ष पै जिसके,––
प्रकाशित किये थी जिसको तड़ित की वक्र असि-चितवन,
वही यह चिर पुराण, प्रसिद्ध, योगी नील वर्ण गगन,––
बना साक्षी तुम्हारे स्नेह का, हे सौम्य जीवन-धन !

(५)

भरे बादल झरे नभ से; ढरे जल-बिन्दु लोचन से;
बहा निःश्वास नासा से; हहर उट्ठा प्रसुप्त पवन;
प्रकृति के रंग ने, स्वामिनि, तुम्हारे भाव रँग डाले;
हरित वन-राजि सिहरी; और सिहरा गौर मृदु तव तन।

(६)

सघन घन-ओट से ज्यों चन्द्र खेले दृग-मिचौनी, त्यों––
लटों की ओट से चमका तुम्हारा चन्द्र-मुख मोहन;
पवन से लड़-झगड़ कर उलझ रूठे कृष्ण, घन-कुन्तल;
निरखते रह गये शोभा थकित मेरे चकित लोचन।

(७)

तुम्हारे वचन बोले गत युगों की लुप्त गाथा तब--
कि जब तुमने कहा : तुम हो हमारे पूर्व परिचित जन !
उठीं तुम पूछ : बोलो, कहाँ देखा है तुम्हें हमने ?
मथित हम निरखते ही रहे तव गत स्मृति-जटित आनन।

(८)

बनीं अस्तित्व की घड़ियाँ ज्वलित अंगार की माला,--
तुम्हारे बिन जिसे मैं किये हूँ निज ग्रीव में धारण;
निपट निस्तार मेरा ज्वाल-माला से कभी होगा ?
कहो, कब हो सकेगा दग्ध यह जीवन सजल सावन ?

१९५७

❀ ❀ ❀

श्री सुमित्रानन्दन पंत

(१) निर्झर-गान

शुभ्र-निर्झर के झर्-झर्-पात !
कहाँ पाया यह निर्भय-गान ?
श्रृङ्ग के निर्मल-नाद !
स्वरों का यह सन्धान ?
विजनता का-सा विशद-विषाद,
समय का-सा संवाद;
क्रिया का-सा अजस्र-आह्वान,
गगन का-सा आह्लाद;
मौन-गिरिवर के मुखरित-ज्ञान !
भारती का-सा अक्षय-दान ?
सितारों के हैं गीत महान,
मोतियों के अमूल्य, अम्लान;
फेन के अस्फुट, अचिर, वितान,
ओस के सरल, चटुल, नादान;
आँसुओं के अविरल, अनजान,
बालुका के गतिवान;
कठिन-उर के कोमल-उद्घात।
अमर है यह गान्धर्व-विधान।
प्रणति में है निर्वाण,
पतन में अभ्युत्थान;
जलद-ज्योत्स्ना के गात !
अटल हो यदि चरणों में ध्यान;
शिलोच्चय के गौरव संघात !
'विश्व है कर्म-प्रधान।

१९२३

(२) मुसकान

कहेंगे क्या मुझसे सब लोग
कभी आता है इसका ध्यान !
रोकने पर भी तो सखि ! हाय,
नहीं रुकती है यह मुसकान !
मार्ग में बिजली के-से दीप
सुकोमल, सहसा, सौ सौ भाव
सजग हो उठते हैं उर-बीच,
नहीं रख सकती तनिक दुराव !
कल्पना के ये शिशु-नादान
हँसा देते हैं मुझे निदान !
तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते हैं ये भाव,
कभी बन अलि ! जल की लघु बूंद
बढ़ाते हैं मुझसे अपनाव;
गुदगुदाते हैं तन, मन, प्राण,
नहीं रुकती तब यह मुसकान !

कभी उड़ते-पत्तों के साथ
मुझे मिलते हैं ये सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, हैं, मुझको उस पार;

नहीं रखती मैं जग का ज्ञान,
और हँस पड़ती हूँ अनजान!
रोकने पर भी तो सखि! हाय,
नहीं रुकती तब यह मुसकान!

१९२३

(३) स्वप्न

(१)

बालक के कम्पित-अधरों पर
किस अतीत-स्मृति का मृदु-हास
जग की इस अविरत-निद्रा का
करता है रह रह उपवास?
स्वप्नों की उस स्वर्ण-सरित का
सजनि! कहाँ है जन्मस्थान,
मुसकानों में उछल उछल वह
बहती है किस ओर अजान?

(२)

किन कर्मों की जीवित-छाया
उस निद्रित-विस्मृति के सङ्ग
आँखमिचौनी खेल रही है,
किन भावों की गूढ़-उमङ्ग?
मुँदे-नयन-पलकों के भीतर
किस रहस्य का सुखमय-चित्र
गुप्त-वञ्चना के मादक-कर
खींच रहे हैं! सजनि विचित्र?

(३)

निद्रा के उस अलसित-वन में
वह क्या भावी की छाया
दृग-पलकों में विचर रही, है
भुवनमोहिनी या माया?
नयन-नीलिमा के लघु-नभ में
यह! किस सुखमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी-बादल-सा
बदल रहा है रूप-अपार?

(४)

अलि! मृदु-पलकों के प्यालों में
किस स्वप्निल-मदिरा का राग
इन्द्रजाल-सा गूँथ रहा है,
किन पुष्पों का स्वर्ण-पराग?
किन इच्छाओं के पङ्खों में
उड़ उड़ ये आँखें अनजान
मधु-बालों-सी, छाया-बन की
कलियों का मधु करतीं पान?

(५)

मानस की फेनिल-लहरों पर
किस छबि की किरणें अज्ञात
स्वर्ण-वर्ण में लिखतीं अविदित
तारक-लोकों की शुचि-बात?
अलि! किन जन्मों की सञ्चित-सुधि
बजा सुप्त-तन्त्री के तार
नयन-नलिन में बँधी मधुप-सी
करती मर्म-मधुर-गुञ्जार?

(६)

पलक-यवनिका के भीतर छिप,
हृदय-मञ्च पर छा छबिमय,
सजनि! अलम के मायावी-शिशु
खेल रहे कैसा अभिनय?
मीलित-नयनों का अपना ही
यह कैसा छायामय-लोक
अपने ही सुख-दुख, इच्छायें,
अपनी ही छबि का आलोक!

(७)

मौन-मुकुल में छिपा हुआ जो
रहता विस्मय का संसार
सजनि ! कभी क्या सोचा तू ने
वह किसका है शयनागार ?
प्रथम-स्वप्न उसमें जीवन का
रहता है अविकच, अज्ञान,
जिसे न चिन्ता छू पाती है
जो हैं केवल अस्फुट-गान।

(८)

जब शशि की शीतल-छाया में।
रुचिर रजत-किरणें सुकुमार
प्रथम खोलतीं हैं कलिका के
अन्तःपुर के कोमल-द्वार,
अलि-बाला से सुन तब सहसा,--
'जग है केवल स्वप्न-असार',
अर्पित कर देती मारुत को
वह अपने सौरभ का भार।

(९)

हिम-जल बन, तारक-पलकों से
उमड़ मोतियों-से अवदात,
सुमनों के अधखुले-दृगों में
स्वप्न लुढ़कते हैं नित प्रात;
उन्हें सहज अञ्चल में चुन, चुन,
गूँथ उषा-किरणों में हार
क्या अपने उर के विस्मय का
तूने कभी किया शृङ्गार ?

(१०)

विजन-नीड़ में चौंक अचानक,
विटप-बालिका पुलकित-गात
जिन सुवर्ण-स्वप्नों की गाथा
गा गा कर कहती है प्रात
सजनि ! कभी, क्या सोचा तूने
तरुओं के तम में चुपचाप,
दीप-शलभ दीपों को चमका
करते हैं जो मौनालाप ?

(११)

या जलनिधि की पुलकावलि-सी
सलिल-बालिकायें सुकुमार
सिन्धु-स्वप्न-सी उभड़, अतल के
बतलातीं जो भेद अपार ;
अलि! जिस स्वप्नों की भाषा में
इङ्गित करते तरु के पात,
जहाँ प्रात को छिप जाती है
वह स्वप्नों से जगमग रात ?

(१२)

दिनकर की अन्तिम-किरणों ने
उस नीरव-तरु के ऊपर
स्वप्नों का जो स्वर्ण-जाल है
फैलाया सुखमय, सुन्दर;
विहग-बालिका बन हम दोनों,
वहाँ बैठ पल भर एकान्त,
चल सखि! स्वप्नों पर कुछ सोचें,
दूर करें निज भ्रान्ति नितान्त।

(१३)

सजनि ! हमारा स्वप्न-सदन क्यों
काँप उठा सहसा थर् थर् !
किस अतीत के स्वप्न अनिल में
गूंज उठे, कर मृदु मरमर !
विरस-डालियों से यह कैसा
फूट रहा है ! रुदन-मलिन,--
'हम भी हरी भरी थीं पहले,
पर अब स्वप्न हुए वे दिन !

(१४)

पत्रों के विस्मित-अधरों से
वह किसका अस्फुट सङ्गीत
मौन-निमंत्रण भेज रहा है
अन्धकार के पास सभीत !
सघन-द्रुमों में झूम रहा अब
निद्रा का नीरव-निःश्वास,
मूँद रहा है अंधकार में
रह रह अलस-पलक आकाश !

(१५)

जग के निद्रित-स्वप्न सजनि ! सब
इसी तिमिर में बहते हैं,
पर जागृति के स्वप्न हमारे
अन्तर ही में रहते हैं।
अह ! किस गहरे-अन्धकार में
डूब रहा धीरे संसार,
कौन जानता है, कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न-असार !

(१६)

अलि ! क्या कहती है, प्राची से
फिर उज्ज्वल होगा आकाश ?
पर, मेरे तम-पूर्ण-हृदय में
कौन भरेगा प्रकृत-प्रकाश !

१९२४

(४) बादल

(१)

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर;
मेघदूत की सजल-कल्पना,
ओ' चातक के जीवनधर;
मुग्ध-शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर;
विहग-वर्ग के गर्भ-विधायक,
कृषक-बालिका के जलधर।

(२)

भूमिविवर में छिप विहंग-से,
सकुचा निज बहुलोमी-पर
हम असंख्य अस्फुट-बीजों में
साँस, सेवते हैं मृदुतर;
फिर उर्वी के सिंचित-उर से
सुरभित साँसों-से उठ कर
हम अपनी ही मृदुता में द्रुत
हो जाते हैं दृग्गोचर।

(३)

जलाशयों में कमल-दलों-सा
हमें खिलाता है दिनकर,
पर बालक-सा वायु सकल-दल
दल मल जाता, चुन चुन कर;
जब लघु-लहरों के पलनों में
हमें झुलाता है सागर,
वही चील-सा झपट, बाँह गह,
हमको ले जाता सत्वर।

(४)

विशद-भावनाओं-से ज्यों ज्यों
उठते हम भू से ऊपर,
वह बहुरंगी जल-बुद्बुद्-सी
हमको लगती है लघुतर;
विपुल-कल्पना-से त्रिभुवन की
विविध-रूप फिर धर सुन्दर
हम अपार-उर में अनन्त के
क्रीड़ा करते हैं सुखकर।

(५)

कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते,
कभी झूमते-कुञ्जरवर-से
मिलते हैं विचरण करते
श्रवण उठाकर सजग-सँसों से
कभी नीलिमा को चरते।
फिर कपिदल-से अनिल-डाल में
नीरवता से मुँह भरते।

(६)

कभी अचानक, भूतों का-सा
प्रकटा विकट - महा-आकार,
कड़क, कड़क, जब हँसते हैं हम
थर्रा उठता है संसार;
फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पङ्ख पसार,
समुद पैरते हैं ज्योत्स्ना में,
पकड़ कुमुद के कर-सुकुमार।

(७)

अनिल-विलोड़ित गगन-सिन्धु में
प्रलय-बाढ़-से चारों ओर
उमड़ उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर;
बात बात में, तूल-तोम-सा
व्योम-विटप से झटक, झकोर,
हमें उड़ा ले जाता है जब
दल-बल-युत घुस बातुल-चोर।

(८)

कुमुद-विशद-तारों से तरलित
तम के यमुना-जल में श्याम
हम विशाल जम्बाल-जाल-से
बहते हैं अमूल, अविराम;
दमयन्ती-सी कुमुद-कला के
रजत-करों में फिर अभिराम
स्वर्ण-हंस-से हम मृदु-ध्वनिकर
कहते हैं सन्देश ललाम।

(९)

मधुप-निकर-से धवल-सुनहले
तारों से बहु घिरे, रसातल——
मधुगृह-से हम गगन-पटल में
लटके रहते हैं सुविशाल;
जल जालिक-सा अनिल हमारा
नील-सलिल में फैला जाल,
उन्हें फँसा लेता है सहसा
मीनों के-से व्याकुल बाल।

(१०)

दुहरा विद्युद्दाम चढ़ा द्रुत,
इन्द्र-धनुष की कर टंकार;
विकट-पटह-से निर्घोषित हो,
बरसा विशिखों-सा आसार;
चूर्ण चूर्ण कर वज्रायुध से
भूधर को, अति भीमाकार
मदोन्मत्त वासव-सेना-से
करते हैं हम वायु-विहार।

(११)

व्योम-विपिन में जब वसन्त-सा
खिलता है पल्लवित - प्रभात,
बहते हैं हम अनिल-स्रोत में
गिर तमाल-तम के-से पात;
उदयाचल से बाल-हंस फिर
उड़ता है नभ में अवदात,
फैल स्वर्ण-पंखों से हम भी,
करते द्रुत मारुत से बात।

(१२)

सन्ध्या का मादक-पराग पी,
झूम मलिन्दों-से अभिराम,
नभ के नील-कमल में निर्भय
करते हम मद-मुग्ध-विराम;
प्रभासिन्धु में फिर बाड़व-से
सुलग, सोख उसको अविराम,
बिखरा देते हैं तारों-से
नभ में उसके रत्न-निकाम।

(१३)

जब ऋषि-सा उर में अनन्त को
सिन्धु देखता है साकार
हम माया-से सन्मुख पड़ द्रुत
उपजाते हैं विविध-विकार;
सुरँग-इन्द्रधनुषी-साड़ी से
शशि-बाला का साज सँवार
इन्द्रजाल रच, विचलित कर उर,
हर लेते हैं दृष्टि अपार।

(१४)

धीरे धीरे संशय-से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि-भोर;
इन्द्रचाप-सी व्योम-भृकुटि पर
लटक मौन-चिन्ता से घोर,
घोष भरे विप्लव-भय-से हम
छा जाते हैं चारों ओर।

(१५)

पर्वत से लघु-धूलि, धूलि से
पर्वत बन, पल में, साकार––
काल-चक्र-से चढ़ते, गिरते,
पल में जलधर, फिर जल-धार;
कभी हवा में महल बनाकर,
कभी बाँध कर सेतु अपार,
हम विलीन हो जाते हैं फिर
विभव-भूति ही-से निस्सार।

(१६)

नग्न-गगन की शाखाओं में
फैला मकड़ी का-सा जाल,
हम नभ के उड़ते पतंग को
उलझा लेते हैं तत्काल;
फिर अनन्त-उर की करुणा-से
त्वरित द्रवित हो हम, उत्ताल––
आतप में मूर्छित कलियों को
जाग्रत करते हैं जल डाल।

(१७)

हम सागर के धवल-हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल-फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल;
नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल-भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल।

(१८)

अम्बर-बेलि, सितारों की गति,
चलते-अचल, गगन के गान,
हम ही हैं तारों की तन्द्रा,
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान;
पवन-धेनु, रवि के पांशुल-श्रम,
सलिल-अनल के विरल-वितान,
व्योम-पलक, जल-खग, बहते-थल,
अम्बुधि की कल्पना महान।

(१९)

धूम-धुँआरे, काजर-कारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन-राज के बीर-बहादर,
पावस के उड़ते फणिधर;
चमक-झमकमय मन्त्र-वशीकर,
छहर-घहरमय विष-सीकर,
प्रखर केतकी के केशर-शर,
कामरूप घनश्याम अमर।

१९२४

(५) पतझड़

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!
तुम त्रस्त-ध्वस्त, तुम शुष्क-क्षीण,
हिम-ताप-पीत, मधु बात-भीत,
तुम बीतराग, जड़, पुराचीन!
निष्प्राण विगत-युग! मृत विहंग!
जड़-नीड़ शब्द औ' श्वास-हीन,
च्युत अस्तव्यस्त पंखों से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन!

कंकाल-जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव-लाली,
प्राणों की मर्-मर् से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली,
मंजरित विश्व में यौवन के
जगकर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय-स्वर-मदिरा से
भर दे युग के नभ की प्याली।

१९३४

(६) बापू के प्रति

तुम मांस-हीन, तुम रक्त-हीन,
हे अस्थि-शेष ! तुम अस्थि-हीन,
तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण ! हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमें असार भव-शून्य लीन;
आधार अमर, होगी जिस पर
भावी की संस्कृति समासीन !

तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त-अस्थि,—
निर्मित जिनसे नव-युग का तन,
तुम धन्य ! तुम्हारा निःस्व-त्याग
है विश्व-भोग का वर-साधन !
इस भस्म-काम तन की रज से
जग पूर्ण-काम नव जग-जीवन,
बीनेगा सत्य-अहिंसा के
ताने-बानों से मानवपन !

सदियों का दैन्य-तमिस्र तूम,
धुन तुमने कात प्रकाश-सूत,
हे नग्न ! नग्न-पशुता ढँक दी
बुन नव-संस्कृत मनुजत्व पूत !
जग पीड़ित छूतों से प्रभूत,
छू अमृत-स्पर्श से, हे अछूत !
तुमने पावनकर, मुक्त किये
मृत-संस्कृतियों के विकृत भूत !

सुख-भोग खोजने आते सब,
आये तुम करने सत्य-खोज,
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के, मन के मनोज !
जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर
चेतना, अहिंसा, नम्र-ओज,
पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज !

सहयोग सिखा शासित जन को
शासन का दुर्वह हरा भार,
होकर निरस्त्र, सत्याग्रह से
रोका मिथ्या का बल-प्रहार;
बहु भेद-विग्रहों में खोई
ली जीर्ण-जाति क्षय से उबार,
तुमने प्रकाश को कह प्रकाश,
औ' अन्धकार को अन्धकार !

पशु-बल की कारा से जग को
दिखलाई आत्मा की विमुक्ति,
विद्वेष-घृणा से लड़ने को
सिखलाई दुर्जय प्रेम-युक्ति;
वर कृति-प्रसूति से की कृतार्थ
तुमने विचार-परिणीत उक्ति,
विश्वानुरक्त हे अनासक्त !
सर्वस्व-त्याग को बना भुक्ति।

उर के चरखे में कात सूक्ष्म
युग-युग का विषय-जनित विषाद,
गुंजित कर दिया गगन जग का
भर तुमने आत्मा का निनाद !
रँग-रँग खद्दर के सूत्रों में
नव जीवन-आशा, स्पृहा, ह्लाद,
मानवी-कला के सूत्रधार !
हर दिया यन्त्र-कौशल-प्रवाद !

जड़वाद-जर्जरित जग में तुम
अवतरित हुए आत्मा महान,
यन्त्राभिभूत-युग में करने
मानव-जीवन का परित्राण !
बहु छाया-बिम्बों में खोया
पाने व्यक्तित्व प्रकाशवान,
फिर रक्त-मांस-प्रतिमाओं में
फूंकने सत्य से अमर प्राण !

संसार छोड़कर ग्रहण किया
नर-जीवन का परमार्थ-सार,
अपवाद बने, मानवता के
ध्रुव-नियमों का करने प्रचार;
हो सार्वजनिकता जयी, अजित !
तुमने निजत्व निज दिया हार,
लौकिकता को जीवित रखने
तुम हुए अलौकिक, हे उदार !

मंगल-शशि-लोलुप मानव थे
विस्मित ब्रह्माण्ड-परिधि विलोक,
तुम केन्द्र खोजने आये तब
सबमें व्यापक, गत-राग-शोक;
पशु-पक्षी-पुष्पों से प्रेरित
उद्दाम-काम जन-क्रान्ति रोक,
जीवन-इच्छा को आत्मा के
वश में रख, शासित किये लोक !

था व्याप्त दिशावधि-ध्वान्त, भ्रान्त--
इतिहास विश्व-उद्भव प्रमाण,
बहु हेतु, बुद्धि, जड़, वस्तुवाद
मानव-संस्कृति के बने प्राण;
थे राष्ट्र, अर्थ, जन, साम्यवाद
छल-सभ्य जगत के शिष्ट-मान
भू पर रहते थे मनुज नहीं,
--बहु रूढ़ि-रीति प्रेतों-समान :--

तुम विश्व-मंच पर हुए उदित
बन जग-जीवन के सूत्रधार,
पट पर पट उठा दिये मन से,
कर नर-चरित्र का नवोद्धार;
आत्मा को विषयाधार बना,
दिशि-पल के दृश्यों को सँवार
गा-गा--एकोऽहं बहु स्याम,
हर लिये भेद, भव-भीति-भार !

ये राज्य, प्रजा, जन, साम्य-तन्त्र
शासन-चालन के भिन्न यान,
मानस, मानुषी, विकास शास्त्र
हैं तुलनात्मक, सापेक्ष ज्ञान;
भौतिक विज्ञानों की प्रसूति
जीवन-उपकरण-चयन प्रधान,
मथ सूक्ष्म-स्थूल जग, बोले तुम--
मानव मानवता का विधान !

एकता इष्ट, निर्देश किया,--
जग खोज रहा था जब समता,
अन्तर-शासन चिर राम-राज्य,
औ' बाह्य आत्महन अक्षमता;
हों कर्म-निरत जन, राग-विरत,
रति-विरति-व्यतिक्रम भ्रम-ममता,
प्रतिक्रिया-क्रिया साधन-अवयव,
है सत्य सिद्ध, गति-यति-क्षमता।

साम्राज्यवाद था कंस, वन्दिनी
मानवता पशु-बलाक्रान्त,
शृंखला दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन-पद, शक्ति-भ्रान्त;
कारा-गृह में दे दिव्य-जन्म
मानव-आत्मा को मुक्त, कान्त,
जन-शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत-पद-प्रणत, शान्त !

कारा थी संस्कृति विगत; भित्ति बहु
धर्म-जाति-गत रूप-नाम,
बन्दी जग-जीवन, भू विभक्त,
विज्ञान-मूढ़ जन प्रकृति-काम;
आये तुम मुक्त-पुरुष, कहने,--
मिथ्या जड़-बन्धन, सत्य राम !
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः !
जय ज्ञान-ज्योति ! तुमको प्रणाम !

१९३६

(७) दीपक

दीपक जलता !

राजमहल थे कभी सँजोए इसने,
आज खँडहरों का तम इसको हरना,
रंग सभा का था प्रकाश जो अपलक,
हाट बाट अब देना उसको धरना !
एक अनेक हुआ घट घट में,
युग संध्या यह, दिन अब ढलता,
दीपक जलता !

भूत निशा का रे प्रहरी यह,
धरा तिमिर कब हरने आया ?
कहाँ अपार समुद्र, कहाँ यह,
क्षुद्र तरी सी कंपित काया !
मिट्टी हो आभा का पलना,
मात्र स्नेह वत्सलता !
दीपक जलता

यह प्रभात की स्वर्णिम मौन प्रतीक्षा,
जय की झंझा लेती कठिन परीक्षा,—
महत् ज्योति में लय होना ही
इसके क्षण जीवन की दीक्षा !
यह प्रभात ही का प्रकाश रे
दीपक उर में पलता !
दीपक जलता !

१९५८

❀ ❀ ❀

पं० ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

स्वार्थी

स्वार्थी का भी जन्म सफल क्या हो सकता है ?
जग में क्या वह सुयश बीज भी बो सकता है ?
जीवन में क्या उसे विजय-पद मिल सकता है ?
ऊसर में भी कनक-कमल क्या खिल सकता है ।।
स्वार्थी मानव नहीं सहारा कुछ भी पाता ।
विषधर को भी क्या कोई है दूध पिलाता ?
प्रिय जन हों या मित्र, शत्रु सब हो जाते हैं ।
मतलब के सब यार सहायक खो जाते हैं ।।
प्रबल शत्रु है स्वार्थ, मनुज को दीन बनाता ।
कौड़ी का कर तीन हीन अति क्षीण बनाता ।।

जो जन इसके विकट फांस में फँस जाते हैं ।
खोकर के सर्वस्व निबल हो पछताते हैं ।।
स्वार्थी का विश्वास नहीं कोई करता है ।
जला दूध का मनुज मठे से भी डरता है ।।
आँखों का बन शूल धूल सम वह रहता है ।
घोर घने अपमान अनेक सदा सहता है ।।
स्वार्थ-विवश हो कहो पेट क्या भर सकते हो ?
मोह-सिन्धु है अगम, किन्तु क्या तर सकते हो ?
धर्म-कर्म अनुसार न्याय से फल पाओगे
बोकर वृक्ष बबूल आम क्या उपजाओगे ।।

१९२३

❀ ❀ ❀

श्री० राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

माली

(१)

जिस कलिका पर प्यार अनूठा
तू निसि दिन दिखलाता, माली;
उस को ही डालों से करके
अलग कहो क्या पाता, माली?
अपने ही हाथों से प्रति दिन
करता जिसका सिंचन, माली;
कैसे सह्य उसी का होता
तुझ को नीरव क्रन्दन, माली?

(२)

झूम-झूम कर डालों पर वह
प्रेमोन्माद दिखाती, माली;
तुझे प्रेम से पूर्ण समझकर,
वह मानो इतराती, माली।
किन्तु हाय, इसके बदले में
वह तुझ से क्या पाती, माली?
छीदी जाती है तेरे ही
कर से उसकी छाती, माली!

(३)

फिर भी बड़े मोल जो गुण के
ग्राहक हाथ बिकाती, माली;
पटरानी के वक्षस्थल पर
सारी रैन बिताती, माली।
सुर गण के मस्तक पर भी जो
चार घड़ी मँडराती, माली;
हाय नहीं क्यों घर में ही वह
तुझ से आदर पाती, माली?

(४)

इनके ही कारण उपवन में,
आता भौंरों का दल, माली;
किन्तु नहीं इनके उर में है
औरों सा कुछ भी छल, माली।
कुछ भी तो इन कलियों पर तू
अपनी दया दिखाना, माली;
हों पतंग ये, पर तू दीपक
बन मत इन्हें जलाना, माली।

१९२५

❀ ❀ ❀

श्री० आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव

नयन

जीवन के जीवन, प्रकाश के
प्रकृत प्रकाशक, परिचायक,
सर्वश्रेष्ठ अनुभव के दाता,
बाह्य इन्द्रियों के नायक!
तिमिरार्णव के युगल ज्योतिमय
जलयानों के दो पतवार
धृति के दक्षिण कर, मति के पर
अन्वेषण के प्राणाधार;

दास विश्व का रवि मण्डल है
शशि है उसकी मृदु मुस्कान,
दोनों से बंचित थे हम जो
तुम न कराते उनका भान!
क्षुद्र ज्योतियों का जीना तो
था मानो जीवन खोना।
जो न हमें इंगित करते तुम
उनका यों जगमग होना।

भव्य विश्व का बृहत्कलेवर
अन्तर्गत यह गगन प्रसार,
चित्र विचित्र मेघ-माला यह
तारों का वह मुक्ताहार !
पहने चित्रित हरित कंचुकी
वसुधा की यह मूर्ति ललाम
झूम झूम कर सब वृक्षों का
देव देव को नम्र प्रणाम
मृदु आन्दोलित लता-द्रुमों का
मन्दस्पन्दित आलिंगन,
यौवन से अस्थिर सुमनों से
मत्त मधुप का मधुर मिलन
अनस्तित्व के महासिंधु में
मग्न सभी रहते सब काल,
नयन तुम्हारे बिना और क्या
जाने क्या क्या होते हाल !
कैसे जीव हमीं होते तब,
वेश कौन भाषा होती ?
किस प्रकार रहते या रहने
की क्या परिभाषा होती !
यहाँ और चाहे जो होते
पर न एक भी कवि होता
काव्य कलाधर कभी न होता
सुप्त ज्ञान का रवि होता!
हमने तुम को भी देखा है
नयन तुम्हारे ही द्वारा
हाय तुम्हारे बिना हमारा
खेल बिगड़ जाता सारा !
कभी तुम्हारे सदृश वस्तु भी
पा सकता था यह संसार,
तुम्हें छोड़ कर कौन उठा
सकता था मन में यही विचार !

शिव से प्रेरित होकर यद्यपि
किया जला कर उसको क्षार,
किन्तु तुम्हारे बिना मदन का
हो जाता जीवन निस्सार
भावों के सागर सजीव
राजीव चपलता के आगार
सुषमासर के मीन मनोहर
नर तन के अनुपम शृंगार
सृजन शक्ति के तरल हृदय से
निकले हुए छन्द अभिराम,
लघु होकर भी अप्रमेय हो
हाव-भाव-मय लीला-धाम !
गुपचुप सदा फँसाते हो मन
तुम अदृश्य फैला कर जाल
किस कवि से चित्रित हो सकती
भला तुम्हारी तिरछी चाल ?
लाल डोर की प्रत्यंचा से
प्रेरित विशिखों की भरमार,
सुमन चाप हो तुम्हीं तुम्हारा
चढ़ता, फिर नीरव टंकार,
किस को स्थित रहने देता है,
किसे नहीं कर जाता पार
कवच हटाकर के छाती पर
लेता वे शर जड़ संसार
नयन तुम्हारी सरल काव्यमय
बिना व्याकरण भाषा मौन,
प्रकट न कर सकती हो जग में
भाव भला ऐसे हैं कौन ?
मृदु चितवन की एक लचक से
पैदा होता रस-सागर,
किस भाषा की क्षुद्र शक्ति में
चमत्कार हैं ये सुन्दर !

१९२७

❀ ❀ ❀

पं० बलदेवप्रसाद मिश्र

कृष्ण की वंशी

बजिबो करत बर बाँसुरी तिहारी
विश्वमाँहि हियहारी श्याम ! सुषमा सुधा के ऐन !
चाहै जो सुनहि जाय नीरव निसर्ग माँहि,
सरस सँगीत ताको अतुल प्रमोद देन ।।

ललित प्रशान्ति राग गावत नछत्रवृन्द
सुनि सुनि रस माँहि भींजत सुमन-सेन ।
उदधि-जुन्हाई बीच आनँद हिलोरन में
थिरकि थिरकि ताल देत जहँ चन्द्र फेन ।।

१९२८

❀ ❀ ❀

पं० पद्मकान्त मालवीय

दुख-सुख

शान्ति मिली है दुख में ही
सुख में वह शान्ति कहाँ है
रह जाता है नहीं वहाँ जो
रहता सदा जहाँ है।
भूल सदा जाता हूँ अपने
को मैं अपनेपन में
ऊँची से ऊँची उड़ान
लेता हूँ स्वप्न-गगन में।
जगती का विचार ही जाता
रहता मेरे मन से
होता है तन विलग जीव से
और जीव भी तन से।
खींच मुझे लाता है दुख जब
अपने स्वर्ण-महल में
जीवन के सच्चे सुख को
पा जाता हूँ फिर पल में।
सुख में दुख, दुख में सुख,
मिलता मर्म यही जीवन का

घोर दुःख ही मूल्य रहा है
मेरे जीवन-धन का।
सुख से मिला विचारा था
क्या साथ छुड़ाना अपना
देखा कुछ दिन तो अवश्य
अब टूटा सारा सपना।
दिया खिलौना था सुख का
पर ध्यान न था यह तुझको
टूट जायगा तब बहलायेगा
तू कैसे मुझको।
वही हुआ, अब टूट गया अति-
जीर्ण खिलौना सुख का
प्यारा आज बना हूँ मैं
भी तेरे प्यारे सुख का।
देखूँगा मैं कहाँ आज
बचकर जाते हो प्यारे
पकड़ तुम्हें लूँगा अवश्य ही
जीवन - सिंधु - किनारे।

१९२९

❀ ❀ ❀

श्री 'अनूप'

प्राप्ति-स्थान

(१)

उमँग रहा था नैन-नीर नीर-निधि ही सा,
अंक भरने के लिए आनन-जुन्हैया को।
बढ़ता वियोग-वाड़वानल प्रचंड ही था,
पाता कैसे स्वमति-तिमिंगिल बचैया को।
उथल-पुथल-सी मची थी मनो-मण्डल में,
सन्तों से सुना था कहीं कुँवर कन्हैया को।
होती जो अशान्ति में भी शान्ति न तुरन्त ही, तो
झंझा-सी उसास बोर देती देह-नैया को।

(२)

आपने कृपा की, करुणा की, अनुभूति की, तो
बिम्ब-प्रतिबिम्ब लोचनों के मध्य छा गया।
हेरा हरि! हरितापमान जगतीतल को,
नील अन्तरिक्ष नील-रंग में समा गया।
मुखरित मुक्ति-मयी मंजु मुरली की ध्वनि,
दौड़ा सुनने को, सुनने को लौट आ गया,
खोला जड़ता के जो कपाट मनोमन्दिर के,
अन्दर धँसा न, देहली पै तुम्हें पा गया।

१९२९

❀ ❀ ❀

पं० जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'

(१) सुमन

१

जीवन को धूल में मिलाना न 'हितैषी' कहीं,
निरमोहियों के मोहवश होते डरना,
खोना निज सौरभ न पड़के किसी के गले,
दमबाज़ दम्भियों का भी न दम भरना॥
विरह में तन को सुखाना मन देके नहीं,
पानी पानी होके घुल घुल के न मरना।
सुमन, सुमनहारी फूले हो तो भूल से भी,
प्रणय भ्रमित भ्रमरों से मत करना॥

२

मिलने को बाग की बहार वह अब कहाँ,
मधुर मधुर मधुपों का वह गाना हाय।
अठखेलियाँ भी करने को लोनी लतिकायें,
अब कहाँ झूम के हवा के झोंके खाना हाय॥
कोमल बदन कुम्हला के क्यों न सूखे 'हित',
देश छोड़ दु:खी को विदेश पड़ा आना हाय।
हो यों प्रतिकूल जाय दैव जिसके हे फूल,
भूल जाय क्योंकर न मन्द मुसकाना हाय॥

१९२९

(२) कवि-गर्वोक्ति

विधि-सृष्टि से श्रेष्ठ है सृष्टि रची,
अति मुग्ध हुई बलि जा रही है,
सुखकान्ति की आरती साजे हुए,
जयमाला लिये मुसका रही है;

गुण पूज्य द्विवेदी के गा रही है,
स्वरों की लहरी लहरा रही है,
वह वाणी नवीना बनी सी बनी,
कविवाणी की वीणा बजा रही है॥१॥

साहित्य-संजीवनी आचार्य महावीर ने दी,
है प्रसाद, ओज, भाषा-ज्ञान में महानता,
हरिऔध जी ने मृदु कल्पना की मुक्तावलि,
दी है गुप्त जी ने अर्थ गौरवप्रधानता,
रत्नाकर जी ने दी हितैषी भाव-रत्न-राशि,
श्रेय है सभी का स्नेही जी को हूँ मैं मानता,
जानता जगत अम्बा मुझ पै प्रसन्न सदा,
फिर कौन मेरी कर सकता समानता।।२।।

सुखद श्रृंगार में हूँ रत होता राधिका-सा,
हास्य-सुधा मनसुखा-सा वितरता हूँ मैं,
अद्भुत में, रौद्र में, भयानक में, वीर में, या
बीभत्स में, पांडव-सा ध्यान धरता हूँ मैं;
वात्सल्य में नन्द, शान्त में उद्धव, करुणा में,
दुःख-दग्धा यशुदा-सा आहें भरता हूँ मैं,
ज्येष्ट कवि सुमनीषी स्नेही श्याम का हूँ सखा,
रचना तभी तो सर्व श्रेष्ठ करता हूँ मैं।।३।।

नोरस कुकाष्ठभेदी सरस सुकोमलों पै,
तन, मन, प्रान कुरबान करता हूँ मैं,
नभ में मधुर कल्पना के उड़ा करता हूँ,
वैसा हो रहा हूँ जैसा ध्यान करता हूँ मैं;
मधुमय काव्य मेरा कैसे न हितैषी बने,
मत्त होके गूँज के जो गान करता हूँ मैं,
मानस में पाके पद-पद्म प्यारे माधव के,
मधुप-समान मधुपान करता हूँ मैं।।४।।

बैठता वाल्मीक, व्यास-सा हूँ रचना को तो
हैं, सप्त लोक चौदहो भुवन देख पड़ते,
बुद्धि में बृहस्पति विराजते हैं आकरके,
वारिद-से विशद विचार हैं उमड़ते;
भगवान भावनायें उपजाते हैं हितैषी,
कल्पना के कलित कपाट हैं उघड़ते,
देते हैं विवेक वर ब्रह्मा वाणी बोलती है,
लेखन को लम्बोदर लेखनी पकड़ते।।५।।

१९३३

❀ ❀ ❀

ठा० गुरुभक्त सिंह 'भक्त'

शरद-आगमन

वर्षा ने अब पंख समेटा आगम शरद दिखाता है,
कभी कभी बादल सन्ध्या में छाकर रँग बरसाता है।
यौवन ढल है गया नदी का, उतर गया है पानी भी,
काले बादल श्वेत हो गये जाती रही जवानी भी।।
तिल भर भूमि न नीचे छोड़ी छत पर भी
उग आई दूब,
खपरों पर भी लगी लहरने अपना राज
जमाकर खूब।
भरा हुआ है जल तालों में आया है जो बह बह कर,
उछल उछल पड़ती है मछली निज तरंग में
रह रह कर।

पत्तों की पतवार बनाकर हवा भरी डंठल पर तैर,
परम मनोहर फूल बैंजनी 'करमी' का करता
जल-सैर।
करती है संकेत कुमुदनी हिल हिल कर कुछ
भाव बत
मधुकर घूँघट खोल खाल कर कहता है कुछ गुप्त कथा
गड्ढे जो हैं मैदानों में, वन में या खेतों के पास,
उसमें पानी से उग आये नागरमोथा, नरई-घास।
खड़े हुए हैं उसी किनारे पीत पुष्प से लदे बबूल
कण्टकमय जिसकी इक शाखा फैल रही पानी
पर झूल

जल-चुम्बी इस झुके डाल की फुनगी पर चुनकर
इक डाल,
एक गिलहरी का भी बोझा जो सकती है
नहीं सँभाल।
पानी की खाई के ऊपर लाकर बये चोंच में खर,
एक चतुर शिल्पी सा बुन बुन कोठेदार बनाते घर।
वायू के विपरीत दिशा में कोट हवाई का रख द्वार,
निज बच्चों को खूब झुलाते जुगनू के दीये को बार॥
खेत धान का फूल चला है, दूध लिया कुछ दानों ने,
मेंड़ बाँध कर रोक दिया है पानी चतुर किसानों ने।
सिर पर पहिने सुन्दर कलँगी भरा मोतियों से
अँग अंग,
ओढ़े हरा दुशाला मक्का झूम रहा आनँद के संग॥
चोर बहुत हैं इस मोती के दिन में है चिड़ियों
का डर,
रात समय चक्कर देते हैं ? स्यार और साही आकर।

बाँस गाड़ कर ऊँचे ऊँचे खटिया बाँध फूँस से छा,
मानो कोई बना हुआ है चिड़ियों का घोंसला बड़ा॥
करता रहता उस मचान से, कृषक बिचारा
रखवाली,
जहाँ सुना खटका कोई भी तुरत बजाता है थाली।
आँधी चलती हो जोरों की, जाड़ा हो या पाला हो,
धुआँधार पानी पड़ता हो काली निशि,
अँधियाला हो॥
पहिने एक लँगोटी, ओढ़े एक अँगौछा फटा हुआ,
और कई फाकों से उसका पेट पीठ में सटा हुआ।
जाग जाग कर बैठा बैठा करता रहता रखवाली,
कभी भुलाता है कष्टों को देख खेत की हरियाली॥
बच्चों को ले घनी घास में मैना घूम चराती है,
लम्बी टाँगों से उछला जब टिड्डा धर खा जाती है।
पूर्ण चन्द्र है रात सुहानी, दृश्य बड़ा अलबेला है,
वंशी में तू प्राण फूँक दे, नटवर येही बेला है॥

१९२९

❀ ❀ ❀

श्री मनोरंजन एम० ए०

नीरव-उपहार

बीत जाती जब आधी रात
और सब दुनिया सो जाती।
हमारे नैनों की निंदिआ
न जाने है क्या हो जाती॥

बिकल हो, उठती हूँ मैं जाग
सोचने लगती हूँ, प्यारे!
देखकर हँस उठता है चाँद
खिलखिला उठते हैं तारे॥

वियोगी के जी की पीड़ा
भला संयोगी क्या जाने।
इसी से हँसते हमको लोग
और कसते हम पर ताने॥

किन्तु मैं पा करके सुनसान
रात को सूनी-सी घड़ियाँ,।
अकेली ही बैठी चुपचाप
पिरोती आँसू की लड़ियाँ॥

हृदय-सिंहासन के सम्राट्,
तुम्हीं लो यह नीरव उपहार।
इसी में हमने हे प्राणेश,
गूँथ रक्खा है अपना प्यार॥

१९२९

❀ ❀ ❀

श्री बालकृष्ण राव

नयनों की भाषा

(१)

देखने ही को विधि ने दिये,
नहीं हम मनुजों को हैं नेत्र।
और भी कुछ है इनका अर्थ,
कहीं विस्तृत है इनका क्षेत्र॥

(२)

सभी देखा करते हैं सदा,
धरातल के ये स्थूल पदार्थ।
यहीं तक सीमित जिनकी दृष्टि,
हुए क्या उनके नेत्र कृतार्थ॥

(३)

नहीं, नयनों का है कुछ और,
प्रेमियों की भाषा में अर्थ।
मानते हैं हम इन्हें सदैव,
बोलने में भी परम समर्थ॥

(४)

अपरिचित हृदयों का अनुराग,
यही करते हैं पहले व्यक्त।
निवेदन करने में है जिसे,
सदा वाणी हो चुकी अशक्त॥

(५)

किसे है इस भाषा का ज्ञान,
सार-गर्भित अतिशय संक्षिप्त।
वही समझेगा जिसका हृदय,
हुआ है सत्य प्रेम में लिप्त॥

(६)

प्राणधन! वह भावों से भरी,
तुम्हारी स्नेहमयी शुभ दृष्टि।
हृदय में मेरे करे सदैव,
मधुर सुख-शान्ति सुधा की वृष्टि।

१९३१

श्री प्रणयेश शुक्ल

यह क्या?

दृग-दल-पलक कमल-दल के समान,
ओस-बिन्दु है या अश्रु-बिन्दु का ढलकना?
मृदु मुसकान अम्लान कलियों का मुख,
विकसित लोचनों का चाव से ललकना?
'प्रणयेश' प्रतिक्षण होता झिलमिल क्या है,
हीरक के हारों या कि तारों का झलकना?
पल्लव-अधर का प्रकम्पन कहूँ या इसे,
रूप-माधुरी के मधु-प्याले का छलकना?
देखके अलौकिक तुम्हारी मंजु-मुसकान,
उषा मन्द-हासिनी गगन में लजाती है!
मधुर-मधुर अनमोल बोल सुन सुन,
कोकिल वनस्थली में छिप छिप गाती है।
'प्रणयेश' कोमलता तेरे ही पड़ी है बाँट,
नवकलिका भी अधरों से सकुचाती है।
श्रवण श्रवण करते हैं, दृग देखते हैं,
हृदय हृदय की लगन लग जाती है।

१९३१

श्री केसरी

निर्वासित विहग

दूर मेरी सूनी कुटिया।
विहग परदेशी हूँ दुखिया।
उदयाचल की स्वर्ण-तलहटी में वह मधुवन मेरा।
विधुर विश्व की बाल-स्मृति हँसती बन जहाँ सवेरा।
जहाँ पहुँच अनजान प्रकृति ने प्रथम केलि-विधि ठानी;
टल-मल निर्झर-गीत नवल कुंकुम रंजित पट धानी–
जिसे पिलाती प्रथम उषा अनुरागासव की प्याली।
जिसका ही उच्छिष्ट-मात्र पश्चिमा-अधर पर लाली।
प्रथम रश्मि की खग-कुल करता जहाँ प्रथम अगवानी।
जगने हेतु प्रथम, सोती है जहाँ प्रथम निशि-रानी।
ले जीवन-सौदा पयोद जब प्रथम गगन-पथ आता;
जहाँ पपीहे के पी-पी-रव में प्रिय परिचय पाता।
बाल-अनिल दक्षिण-प्रदेश से आ अनजान भुलाता;
जहाँ प्रथम उपवन-कुंजों में मधुर गीत निज गाता।
जिसने प्रथम मौन जगती को साम्य गान सिखलाया।
जीवन का बन्धुर पथ जिसने प्रथम मसृण ऋजु पाया।
रजत-सेज पर जहाँ स्वर्ण से भूली उतरीं नदियाँ।
केवल जिसकी गोद खेलती थीं बचपन में सदियाँ।
वहीं, वहीं मम पर्ण-कुटी प्रिय सुख था जहाँ महल का।
शाप-दुखी यक्षेश्वर को क्या प्रिय थी ऐसी अलका?

× × ×

सुना है आया है ऋतुराज।
कहाँ मैं हाय! कहाँ वह आज।

पतझड़ में देखे थे कभी सदा ऋतुपति के सपने।
हन्त! आज चिन्तन-वसन्त से लगता है हिय तपने।
वह वसन्त शोभा-अनन्त उस अरुण देश का न्यारा––
फलित वृन्त सुरभित दिगन्त; वह मधुवन मेरा प्यारा––
मुखरित होगा; किन्तु एक मेरा वह नीड़ पुराना––
नीरव!––छोड़ दिया होगा मधु-मंगल-साज सजाना
और हाय! वह प्रिया!––कभी थी जो उपवन की रानी।
रे वसन्त! कहना न भूल उससे निज प्रणय-कहानी।

१९३१

❀ ❀ ❀

श्री केशवप्रसाद पाठक

पूछ रहे हो मेरा घर

कोलाहल से बड़ी दूर पर जहाँ खड़े हैं गिरि-गह्वर,
झर झर झरते हैं निर्झर।
पवन जहाँ खेला करता है पुष्प-पुंज से हिल-मिलकर,
हँसती हैं कलियाँ खिलकर।
खग-दल कल कूजन से अपने मुखरित करते वन दिनभर,
मधु पीते मधु-रत मधुकर।
रजत रश्मियाँ जहाँ चन्द्र की आती जातीं छन छन कर,
मुसुकाते दिन में दिनकर।
शीतल स्निग्ध सलिल बहता है जहाँ क्लान्त मनका श्रमहर,
कल कल में लोरी गाकर।
शान्ति जहाँ सुख से सोती है दूर्वा के बक्षस्थल पर,
जल-कण से शय्या कर घर।
घास-पात का बना हुआ है वहीं कहीं मेरा भी घर,
छोटा-सा पर अति सुन्दर।

१९३२

❀ ❀ ❀

श्री भगवतीचरण वर्मा

(१) वन्दना

जगत-जननि जग-तारिनि वन्दे !
हे सुख-दुख-स्वच्छन्दे !
जीवन की पुलकित आशा हो, विभव-युक्त विश्वास ;
तुम्हीं मृत्यु की मौन निराशा, तुम संशय को त्रास।
आदि शक्ति हो, अटल भक्ति हो, तुम अनुरक्ति विकास;
देवि सृष्टि हो और प्रलय हो, करुणा हो, उल्लास !

जय काली जय काली वन्दे !
सृजन-विजन-स्वच्छन्दे !
तुम सन्ध्या की निखिल कालिमा देवि अन्त की रात,
तुम प्रभात का धुँधला-पन हो दिन जिसका प्रतिघात।
है अभेद्य अस्तित्व तुम्हारा अन्धकार अज्ञात,
शून्य वास्तिमय और अस्तिमय तुम अनन्त हो मात !

१९३२

(२) मानव

(१)

जब कलिका को मादकता में
हँस देने का वरदान मिला,
जब सरिता की उन बेसुध-सी
लहरों को कल-कल गान मिला,
जब भूले से, भरमाये से
भ्रमरों को रस का पान मिला,
तब हम मस्तों को हृदय मिला
मर मिटने का अरमान मिला !

पत्थर-सी इन दो आँखों को
जलधारा का उपहार मिला,
सूनी-सी ठंडी श्वासों को
फिर उच्छ्वासों का भार मिला,
युग-युग की इस तनमयता को
कल्पना मिली, संचार मिला,
तब हम पागल-से झूम पड़े
जब रोम-रोम को प्यार मिला !

भूखण्ड मापनेवाले इन
पैरों को गति का भान मिला,
ले लेनेवाले हाथों को
साहस-बल का सम्मान मिला,
नभ छूनेवाले मस्तक को
निज गुरुता का अभिमान मिला,
पर एक आप-सा हाय हमें
सहसा सुख दुख का ज्ञान मिला !

(२)

मरु को युग-युग की प्यास मिली—
पर उसको मिला अभाव कहाँ ?
पिक को पंचम की हूक मिली—
पर उसको मिला दुराव कहाँ ?
दीपक को जलना जहाँ मिला
पर उसको मिला लगाव कहाँ ?
निर्झर को पीड़ा कहाँ मिली ?
पत्थर के उर में घाव कहाँ ?

वारिदमाला से ढँकने पर
रवि ने समझा अपमान कहाँ ?
नगपति के मस्तक पर चढ़कर
हिम ने पाया सम्मान कहाँ ?
मधुऋतु ने अपने रंगों पर
करना सीखा अभिमान कहाँ ?
कह सकता है कोई किससे
कब कसका है अज्ञान कहाँ ?

बेड़ों को करके गर्क़ किया
लहरों ने पश्चात्ताप कहाँ?
वृक्षों ने होकर नष्ट दिया
तूफानों को अभिशाप कहाँ?
पानी ने कब उल्लास किया
लपटों ने किया विलाप कहाँ?
बादल ने देखा पुण्य कहाँ?
दावा ने देखा पाप कहाँ?

(३)

पर हम मिट्टी के पुतलों को
जब स्पन्दन का अधिकार मिला,
मस्तक पर गगन असीम मिला
फिर तलवों पर संसार मिला,
इन तत्त्वों के सम्राट बने
जिनका हमको आधार मिला,
पर हाय असह-सा वहीं हमें
यह मानवता का भार मिला!
जल उठी अहम की ज्वाल वहीं
जब कौतूहल-सा प्राण मिला,
हम महानाश लेते आये
जब हाथों को निर्माण मिला,
बल के उन्मत्त पिशाचों को
सुख-वैभव का कल्याण मिला,
निर्बलता के कंकालों की
छाती पर फिर पाषाण मिला।
हम लेने को देवत्व बढ़े--
पशुता का हमें प्रमाद मिला,
पर की तड़फन में, आँसू में
हमको अपना आह्लाद मिला;
निज गुरुता का उन्माद मिला,
निज लघुता का अवसाद मिला,
बस यहाँ मिटाने को हमको
मिटने का आशीर्वाद मिला!

(४)

जब हमने खोली आँख वहीं
उठने की एक पुकार हुई;
रवि-शशि उडु भय से सिहर उठे
जब जीवन की हुंकार हुई;
'तुम हो समर्थ, तुम स्वामी हो'--
जब तत्त्वों की अनुहार हुई,
तब क्षिति की धुँधली रेखा में
खिंच कर सीमा साकार हुई।
जब एक निमिष में युग-युग की
व्यापकता व्याप्त विलीन हुई,
जब एक दृष्टि में दश-दिशि के
बन्धन से छबि स्वाधीन हुई,
जब एक श्वास में भावी की
स्वप्निल छाया प्राचीन हुई,
जब एक आह् में मानव की
गुरुता खिंच कर श्रीहीन हुई!
जब हम सबलों की शक्ति प्रबल
निर्बल संसृति पर भार हुई,
जब विजित, पददलित अणु-अणु से
मानव की जयजयकार हुई,
जब जल में, थल में, अम्बर में
अपनी सत्ता स्वीकार हुई
तब हाय अभागे हम लोगों
की अपने ही से हार हुई!

(५)

नारी के द्युतिमय अंगों की
द्युति में मिल द्युतिमय होने को
पृथ्वी की छाती फाड़ लिया
हमने चाँदी को, सोने को।
हमने उनको सम्मान दिया
पल भर निज गुरुता खोने को
पर हम निज बल भी दे बैठे,
अपनी लघुता पर रोने को!
लोहे से असि निर्मित की थी
अपने अभाव को भरने को,
हिंसक पशुओं की तीव्र नखों
से अपनी रक्षा करने को;

हमने कृषि काटी थी उस दिन
निज तीव्र क्षुधा के हरने को,
पर हाय हमारी भूख ! कि हम
लाये असि खुद कट मरने को !
मथ डाले हैं सागर-अम्बर
हमने प्रसार दिखलाने को,
विद्युत् को हमने निगल लिया
मानव की गति बन जाने को;
तेलों को हमने दाह किया
निशि में प्रकाश बरसाने को;
पर आज हमारे खाद्य घिरे
हैं वे हमको ही खाने को !

(६)

देखो वैभव से लदी हुई
विस्तृत विशाल बाजार यहाँ !
देखो मरघट पर पड़े हुए
भिखमंगों के अम्बार यहाँ !
देखो मदिरा के दौरों में
नवयौवन का संचार यहाँ !
देखो तृष्णा की ज्वाला में
जीवन को होते क्षार यहाँ !
केवल मुट्ठी भर अन्न—कहाँ
है नारी में सम्मान यहाँ ?
केवल मुट्ठी भर अन्न—कहाँ
है पुरुषों में अभिमान यहाँ ?
केवल मुट्ठी भर अन्न—कहाँ
है भले-बुरे का ज्ञान यहाँ ?
केवल मुट्ठी भर अन्न—यही
है बस अपना ईमान यहाँ
अपने बोझे से दबे हुए
मानव को नहीं विराम यहाँ;
सुख-दुख की सँकरी सीमा में
अस्तित्व बना नाकाम यहाँ;
बनने की इच्छा का हमने
देखा मिटना परिणाम यहाँ;
अभिलाषाओं की सुबह यहाँ,
असफलताओं की शाम यहाँ !

(७)

अपनी निर्मित सीमाओं में
हमको कितना विश्वास अरे !
यह किस अशान्ति का रुदन यहाँ !
किस पागलपन का हास अरे !
किस सूनेपन में मिल जाते
जीवन के विफल प्रयास अरे !
क्यों आज शक्ति की प्यास प्रबल
बन गई रक्त की प्यास अरे !
अपने पन में लय होकर भी
अपने से कितनी दूर अरे !
हम आज भिखारी बने हुए
निज गुरुता से भरपूर अरे !
अपनी ही असफलताओं के
बन्धन से हम मजबूर अरे !
अपनी दीवारों से दब कर
हम हो जाते हैं चूर अरे !
पथ-भ्रष्ट हमें कर चुकी आज
अपनी अनियन्त्रित चाल अरे !
डस रही व्याल बनकर हमको
यह अपनी ही जयमाल अरे !
हम प्रतिपल बुनते रहते हैं
अपने विनाश का जाल अरे !
बन गये काल के हम स्वामी
हैं अब अपने ही काल अरे !

(८)

अम्बर को नत करनेवाला
अपना अभिमान झुका न सका,
सागर को पी जानेवाला
आँखों की प्यास बुझा न सका,
व्यापक असीम रचनेवाला
निज सीमा स्वयम् मिटा न सका,
अपनी भूलों की दुनिया में
सुख-दुख का ज्ञान भुला न सका !

अपनी आहों में संसृत के
क्रन्दन का स्वर तू भर न सका,
अपने सुख की प्रतिछाया में
जग को सुखमय तू कर न सका,
यह है कैसा अभिशाप अरे
क्षमता रख कर तू तर न सका ?
तू जान न पाया--'जी न सका
जो उसके पहले मर न सका!'

'है प्रेम-तत्त्व इस जीवन का!'
यह तत्त्व न अब तक जान सका!
तू दया-त्याग का मूल्य अरे
अब तक न यहाँ अनुमान सका!
तू अपने ही अधिकारों को
अब तक न हाय पहचान सका!
तू अपनी ही मानवता को
अब तक हे मानव पा न सका!

१९४७

(३) अन्तिम प्रणाम

हिंसा का वह गरल कि जिससे
झुलस रही मानव की आत्मा
तुम शिव बनकर उसे पी गए तुम हे निस्पृह ! हे निष्काम !
रघुपति राघव राजाराम। पतित पावन सीताराम!
धीर-वीर गम्भीर व्रती तुम
परम पुरुष तुम महायती तुम
आज मोह से मुक्त हो चुके, हे विश्वात्मा हे अभिराम;
रघुपति राघव राजाराम पतित पावन सीताराम।

तुम मानवता के सेनानी
तुम हे ज्ञानी तुम हे ध्यानी
तुम असीम में व्याप्त हो गए करने को अन्तिम विश्राम
रघुपति राघव राजाराम पतित पावन सीताराम।
पतित राष्ट्र के अकलुष बापू!
रँगे तुम्हारे उष्ण रक्त से--
आज राष्ट्र के इन हाथों का तुमको अन्तिम बार प्रणाम!
रघुपति राघव राजाराम पतित पावन सीताराम।

१९४८

(४) आकाशगामी से

नि:सीम नापने चले,--मुबारक हो तुमको।
पर दोस्त! नाप लो तुम पहिले अपनी सीमा!
ऐसा कोई उल्लास आज तक नहीं दिखा
जो पड़ न गया हो यहाँ थकावट से धीमा!
अक्षय हो, ऐसी आयु किसी को कहाँ मिली?
अव्यय हो, ऐसी साँस किसीने कब पाई?
मैं हार गया हूँ खोज-खोज कर वह समर्थ
जो नाप सका हो अपने उर की गहराई।
आकाश नापनेवाले! तुम सच सच कह दो,
क्या नाप सके हो तुम धरती की मौन व्यथा?
जो हरित शस्य, निर्मल जल से भी बुझ न सकी--
वह भूख प्यास की, लिखी रक्त से करुण कथा?

ऐसी कब कोई चाह आह जो बन न गयी?
ऐसा प्रकाश है कहाँ--तिमिर में खो न गया?
मैं हार गया हूँ खोज-खोज कर वह समर्थ
जो चलते-चलते बीच राह में सो न गया!
है ज्ञान समर्थ महान--नहीं इनकार मुझे
कल्पना-पंख पर लक्ष्यहीन उड़नेवाले!
पर देखो, मस्तक पर अभाव असफलता के
हैं घिरे हुए दुर्भेद्य मेघ काले-काले।
है प्रेम सत्य, भावना सत्य, विश्वास सत्य;
पर तुममें है भय-शंका का अविवेक भरा!
हे अन्तरिक्षा की सुन्दरता पर मुग्ध-विमुग्ध!
चरणों के नीचे सिसक रही रसवती धरा!

१९५८

श्री गोपालसिंह नेपाली

देहात

यही है जग का न्यारा देश,
देश का यही प्रान्त वीरान;
यही है दलितों का संसार,
यहीं पर रहते हैं भगवान!
फूस का यहीं बसा घरबार,
प्रकृति का यहीं सदन अभिराम;
यही है सब तीर्थों का तीर्थ,
यहीं पर नरदेवों का धाम!
'बुद्ध' के यहीं विचरते प्राण,
यहीं करती मनुष्यता वास;
यही वह दिव्य प्रेम का लोक,
रहा है जहाँ सत्य विश्वास!
नाचता है चर्खे का चक्र,
यहीं काते जाते हैं तार;
तचाते जो जननी की लाज,
बँधा जाता जिनसे संसार!
टपकते है तारों से धैर्य,
छतों पर छलनी-सी हरारात;
मरे को देने जीवन दान,
यहीं पर आती है बरसात!
फाड़कर छप्पर को भगवान,
यहीं पर देते हैं वरदान;
यहीं रहता है खुश अरमान,
यहीं बसता सच्चा अभिमान!
यहीं बहती है अविरल धार,
शान्ति की घर-घर पर दिन-रात;
चाँदनी मृदु आशा की यहीं,
सजाती है रजनी का गात!
सुनाने आती घर-घर उषा,
अमर जीवन का शुभ संदेश;
बोलकर यहीं पवन का बोल,
कुशल पूछा करते सर्वेश!

प्रकृति की गोदी में नित यहीं,
भरा करता बचपन किलकार;
किया करता जिन पर संसार,
निछावर अपने को सौ बार!
जवानी रहती है मदमस्त,
छेड़ती है 'बिरहा' की तान;
दिखाता यौवन अपना रंग,
बुढ़ापा करता है अभिमान!
घूमते-फिरते हैं हर रोज,
यहीं पर 'तुलसी' और 'कबीर';
यहीं सुन 'सूरदास' की तान,
लुढ़क जाता आँखों से नीर!
जवानी के हाथों से नित्य,
यहीं पड़ती ढोलक पर ताल;
बजाकर यहीं बाँसुरी मधुर,
नाचते फिरते हैं 'गोपाल'!
खण्डहर हैं अतीत के यहीं,
पुरातनता की जीवित याद;
आज का भारत यह बरबाद,
यहीं है किसी तरह आबाद!
धूनियों पर, पुआल पर बैठ,
यहीं पर लगता है दरबार;
सरलता विहँस दिखाती खेल,
सरसता विहँस पिलाती सार!
जगत में 'गाँधी' केवल एक,
और वह 'ईसा का अवतार';
यहाँ बसते हैं किन्तु अनेक,
और ये सब 'मानव-अवतार'
यहीं के खेतों में उत्पन्न,
हुआ करता है मधुर सनेह;
धूल में लोट-लोट कर यहीं,
हुआ करती सोने की देह!

यहीं बसता था 'भारतवर्ष',
यहीं रहता है 'हिन्दुस्तान';
प्रकृति से मिलते हैं चुपचाप,
यहीं हिन्दू, मुस्लिम, क्रिस्तान !

धूल बिकती सोने की मोल,
यहीं आबाद फूस, खर, पात;
यही दुनिया भोली-सी सरल,
इसी को कहते हैं 'देहात' !

१९३२

❀ ❀ ❀

श्री रामकुमार वर्मा

रूपराशि

इस जीवन का खेल बहुत मैं खेला।
प्रेयसि, जब तुम रूठी थीं तब मैंने तुम्हें मनाया;
ऊषागम पर विहग-स्वरों से मैंने तुम्हें जगाया;
पवन-पंख पर बैठ सुमन के द्वार खोलने आया;
नष्ट कर चुका कई बार उस अंधकार की माया;
बिता चुका हूँ यौवन की, सुख की, वसन्त की वेला।
इस जीवन का खेल बहुत मैं खेला।

मत कहना, मेरा जीवन है निर्जन-सा एकान्त;
यद्यपि रहता हूँ वियोग से मैं अस्थिर उद्भ्रान्त;
जब निर्बल हो ओस-बिन्दु-सा शयन करूँगा श्रान्त;
एक किरण-सी आ जाना तुम मेरे उर में शान्त,
प्रिये, रहूँगा फिर भविष्य-जीवन में नहीं अकेला।
इस जीवन का खेल बहुत मैं खेला।

१९३२

❀ ❀ ❀

श्री नरेन्द्र

(१) हर लिया क्यों शैशव नादान ?

हर लिया क्यों शैशव नादान ?
शुद्ध सलिल-सा मेरा जीवन,
दुग्ध-फेन-सा था अमूल्य मन,
तृष्णा का संसार नहीं था,
उर रहस्य का भार नहीं था,
स्नेह-सखा था, नन्दन कानन
था क्रीड़ास्थल मेरा पावन;
भोलापन भूषण आनन का
इन्दु वही जीवन-प्रांगण का
हाय ! कहाँ वह लीन हो गया
विधु मेरा छविमान ?
हर लिया क्यों शैशव नादान ?

निर्झर-सा स्वच्छन्द विहग-सा,
शुभ्र शरद के स्वच्छ दिवस-सा,
अधरों पर स्वप्निल-सस्मिति-सा,
हिम पर क्रीड़ित स्वर्ण-रश्मि-सा,
मेरा शैशव ! मधुर बालपन !
बादल-सा मृदु-मन कोमल-तन।
हा अप्राप्य-धन ! स्वर्ग-स्वर्ण-कन
कौन ले गया नल-पट खग बन ?
कहाँ अलक्षित लोक बसाया ?
किस नभ में अनजान !
हर लिया क्यों शैशव नादान !

जग में जब अस्तित्व नहीं था,
जीवन जब था मलयानिल-सा
अति लघु पुष्प, वायु पर पर-सा,
स्वार्थ-रहित के अरमानों-सा,
चिन्ता-द्वेष-रहित - वन - पशु-सा
ज्ञान-शून्य क्रीड़ामय मन था,

स्वर्गिक, स्वप्निल जीवन-क्रीड़ा
छीन ले गया दे उर-पीड़ा
कपटी कनक-काम-मृग बन कर
किस मग हा! अनजान?
हर लिया क्यों शैशव नादान?

१९३२

(२) प्रयाग

१

मैं बन्दी बन्दी मधुप, और यह गुंजित मम स्नेहानुराग,
संगम की गोदी में पोषित शोभित तू शतदलयुत प्रयाग!
विधि की बाहें गंगा-यमुना तेरे सुवक्ष पर कंठहार,——
लहराती आतीं गिरि-पथ से, लहरों में भर शोभा अपार!
देखा करता हूँ गंगा में उगता गुलाब-सा अरुण प्रात,
यमुना की नीली लहरों में नहला तन उठती नित्य रात!
गंगा-यमुना की लहरों में कण-कण में मणि नयनाभिराम
बिखरा देती है साँझ हुए नारंगी रँग की शान्त शाम!
तेरे प्रसाद के लिए, तीर्थ! आते थे दानी हर्ष जहाँ
पल्लव के रुचिर किरीट पहन आता अब भी ऋतुराज वहाँ!
कर दैन्य-दुःख-हेमन्त-अन्त वैभव से भर सब शुष्क वृन्त
हर साल हर्ष के ही समान सुख-हर्ष-पुष्प लाता वसन्त!
स्वर्णिम मयूर-से नृत्य किया करते उपवन में गोल्ड मोहर,
कुहुका करती पिक छिप छिप कर तरुओं में रत प्रत्येक प्रहर!
भर जाती मीठी सौरभ-से कड़वे नीमों की डाल डाल,
लद जाते चलदल पर असंख्य नवदल प्रवाल के जाल लाल!
'मधु आया', कहते हँस प्रसून, पल्लव 'हाँ' कह कह हिल जाते
आलिंगन भर, मधु-गंध-भरी बहती समीर जब दिन आते!
शुचि स्वच्छ और चौड़ी सड़कों के हरे-भरे तेरे घर में,
सबको सुख से भर देता है ऋतुपति पल भर के अन्तर में!
मधु के दिन पर कितने दिन के! —आतप में तप जल जाता सब
तू सिखलाता, कैसे केवल पल भर का है जग का वैभव!
इस स्वर्ण-परीक्षा से दीक्षा ले ज्ञानी बन मन-नीरजात,
शीतल हो जाता, आती है जब सावन की मुख-सरस रात!

जब रहा-सहा दुख धुल जाता, मन शुभ्र शरद्-सा खिल जाता
यों दीपमालिका में आलोकित कर पथ विमल शरद् आता!
ऋतुओं का पहिया इसी तरह घूमा करता प्रतिवर्ष यहाँ,
तेरे प्रसाद के लिए, तीर्थ! आते थे दानी हर्ष जहाँ!
खुसरू का बाग सिखाता है, है धूप-छाँह-सी यह माया,
वृक्षों के नीचे लिख जाती है यों ही नित चंचल छाया!
वह दुर्ग! ——जहाँ उस शान्ति-स्तम्भ में मूर्त्तिमान अब तक अशोक,
था गर्व कभी, पर आज जगाता है उर उर में क्षोभ-शोक!
तू सीख त्याग, तू सीख प्रेम, तू नियम-नेम ले अज्ञानी——
क्या पत्थर पर अब तक अंकित यह दया-द्रवित कोमल वाणी?——
जिसमें बोले होंगे गद्गद वे शान्ति-स्नेह के अभिलाषी——
दृग भर भर शोकाकुल अशोक; सम्राट्, भिक्षु औ' संन्यासी!
उस पत्थर पर अंकित है क्या? क्या त्याग, शान्ति, तप की वाणी?
जिससे सीखें जीवन-संयम, सर्वत्र-शान्ति सब अज्ञानी!
संदेश शान्ति का ही होगा, पर अब जो कुछ वह लाचारी——
बन्दी बलहीन गुलामों की जड़मूक बेबसी बेचारी!
दुख भी हलका हो जाता है अब देख देख परिवर्तन-क्रम,
फिर कभी सोचने लगता हूँ यह जीवन सुख-दुख का संगम!
बेबसी सदा की नहीं, सदा की नहीं गुलामी भी मेरी,
हे काल क्रूर, सुन! कभी नहीं क्या करवट बदलेगी तेरी?

२

यह जीवन चंचल छाया है, बदला करता प्रतिपल करवट,
मेरे प्रयाग की छाया में पर, अब तक जीवित अक्षयवट ! ——
क्या इसके अजर-पत्र पर चढ़ जीवन जीतेगा महाप्रलय ?
कह, जीवन में क्षमता है यदि तो तम से हो प्रकाश निर्भय !
मैं भी फिर नित निर्भय खोजूँ शाश्वत प्रकाश, अक्षय जीवन,
निर्भय गाऊँ, मैं शान्त करूँ इस मृत्युभीत जग का क्रन्दन !
है नये जन्म का नाम मृत्यु, है नई शक्ति का नाम ह्रास,——
है आदि अन्तका, अन्त आदि का यों सब दिन क्रम-बद्ध ग्रास !
प्यारे प्रयाग ! तेरे उर में ही था यह अन्तर-स्वर निकला,
था कंठ खुला, काँटा निकला, स्वर शुद्ध हुआ, कवि-हृदय मिला !
कवि-हृदय मिला, मन-मुकुल खिला, अर्पित है जो श्री चरणों में,
पर हो न सकेगा अभिनन्दन मेरे इन कृत्रिम वर्णों में !
ये कृत्रिम, तू सत्-प्रकृति-रूप, हे पूर्ण-पुरातन तीर्थराज !
क्षमता दे, जिससे कर पाऊँ तेरा अनन्त गुण-गान आज !
दे शुभाशीस, हे पुण्यधाम ! वाणी कल्याणी हो प्रकाम——
स्वीकृत हो अब श्री चरणों में बन्दी का यह अन्तिम प्रणाम !
तेरे चरणों में शीश धरे आये होंगे कितने नरेन्द्र,
कितने ही आये, चले गये, कुछ दिन रह अभिमानी महेन्द्र !
मैं भी नरेन्द्र, पर इन्द्र नहीं, तेरा बन्दी हूँ, तीर्थराज !
क्षमता दे जिससे कर पाऊँ तेरा अनन्त गुण-गान आज ! !

१९३६

(३) कब मिलेंगे ?

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे——
आज से दो प्रेम-योगी अब वियोगी ही रहेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे!

सत्य हो यदि, कल्प की भी कल्पना कर धीर बाँधूँ,
किन्तु कैसे व्यर्थ की आशा लिये यह योग साधूँ ?
जानता हूँ अब न हम -तुम मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

आयगा मधु-मास फिर भी, आयगी श्यामल घटा घिर,
आँख भर कर देख लो अब, मैं न आऊँगा कभी फिर,
प्राण तन से बिछुड़कर कैसे मिलेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

अब न रोना, व्यर्थ होगा हर घड़ी आँसू बहाना,
आज से अपने वियोगी हृदय को हँसना-सिखाना,
अब न हँसने के लिए हम तुम मिलेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

आज से हम तुम गिनेंगे एक ही नभ के सितारे,
दूर होंगे पर सदा को जो नदी के दो किनारे——
सिन्धु-तट पर भी न जो दो मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

तट नदी के, भग्न उर के दो विभागों के सदृश हैं,
चीर जिनको विश्व की गति बह रही है, वे विवश हैं,
एक अथ-इति पर न पथ में मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

विश्व-पथ है, हम पथिक, पर कौन जाना, कहाँ जाना ?
तीर भी धारा-सदृश गतिवान, थिरता का बहाना !
अन्त ? गति ही सत्य है, कैसे मिलेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

यदि मुझे उस पार के भी मिलन का विश्वास होता,
सत्य कहता हूँ न मैं असहाय या निरुपाय होता,
व्यर्थ हैं वे स्वप्न——'हम फिर भी मिलेंगे !'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

आज तक किसका हुआ सच स्वप्न जिसने स्वप्न देखा ?
कल्पना के मृदुल कर से मिटी किसकी भाग्य -रेखा ?
क्या कभी सम्भव कि हम फिर भी मिलेंगे ?
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

आह, अन्तिम रात वह! बैठी रहीं तुम पास मेरे—
शीश कन्धे पर धरे घन कुन्तलों से गात घेरे!
क्षीण स्वर में कहा था—'अब कब मिलेंगे?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे!

'कब मिलेंगे?' पूछता मैं विश्व से जब विरह-कातर,
'कब मिलेंगे?' गूँजते प्रतिध्वनि-निनादित व्योम-सागर,
'कब मिलेंगे?' प्रश्न, उत्तर 'कब मिलेंगे?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे!

१९३७

❀ ❀ ❀

श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

लघुता की महिमा

'एक तान में फूट पड़ूँ'—यह
कह उठता त्रिभुवन का गान;
दो अधरों में सिमट, चाहता
विश्व-रूप बनना मुसकान;

बन लघु जुही एक कोने में
झरा चाहता नन्दन-वन;
धरा एक रज-कण में अपना
भरा चाहती है यौवन;

'स्वाति-बूँद बन बरस पड़ूँ'—यह
निश्चय करता सिन्धु गहन;
बन कर लघु तारा प्रभात का,
ढला चाहता नील गगन;

लघुता की महिमा पर विस्तृत
विश्व वारता है जीवन;
कवि का हृदय ढलकता है जब
विदा-काल का आँसू बन।

१९३३

❀ ❀ ❀

श्रीमती महादेवी वर्मा, एम० ए०

(१) गीत

मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है!
मेरी आँखों में ढलकर छवि उसकी मोती बन आई;
उसके घनप्यालों में है बिजली-सी मेरी परछाईं;
नभ में उसके दीप स्नेह जलता है पर मेरा उनमें;
मेरे हैं यह प्राण, कहानी पर उसकी हर कम्पन में;
यहाँ स्वप्न की हाट वहाँ अलि छाया का मेला-सा है!
उसकी स्मित लुटती रहती कलियों में मेरे मधुवन की;
उसकी मधुशाला में बिकती मादकता मेरे मन की;
मेरा दुख का राज्य और उसकी सुधि के पल रखवाले;
उसका सुख का कोष वेदना के मैंने ताले डाले;
वह सौरभ का सिन्धु मधुर जीवन मधु की बेला-सा है!
मुझे न जाना अलि उसने जाना इन आँखों का पानी;
मैंने देखा उसे नहीं पदध्वनि है केवल पहचानी;
मेरे जीवन में उसकी स्मृति भी तो विस्मृति बन आती;
उसके सूने मन्दिर में काया भी छाया हो जाती;
क्यों यह निर्मम खेल सजनि मुझसे उसने खेला-सा है!

१९३३

(२) गीत

रूपसि तेरा घन-केश-पाश !
श्यामल श्यामल कोमल कोमल,
लहराता सुरभित केश-पाश !
नभगंगा की रजतधार में
धो आई क्या इन्हें रात ?
कम्पित हैं तेरे सजल अंग,
सिहरा-सा तन है सद्यस्नात !
भीगी अलकों के छोरों से
चूतीं बूँदें कर विविध लास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

सौरभभीना झीना गीला,
लिपटा मृदु अंजन-सा दुकूल;
चल अंचल से झर झर झरते,
पथ में जुगनू के स्वर्ण-फूल;
दीपक से, देता बार बार,
तेरा उज्ज्वल चितवन-विलास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

उच्छ्वसित वक्ष पर चंचल है,
वकपाँतों का अरविन्द-हार;
तेरी निश्वासें छू भू को,
बन बन जातीं मलयज बयार,
केकीरव की नूपुरध्वनि सुन
जगती जगती की मूक प्यास।
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

इन स्निग्ध लटों से छा दो तन,
पुलकित अंकों में भर विशाल;
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अंकित कर इसका मृदुल भाल;
दुलरा दो ना बहला दो ना
यह तेरा शिशुजग है उदास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

१९३४

(३) सान्ध्यगीत

रागभीनी तू सजनि निःश्वास भी तेरे रँगीले !
लोचनों में क्या मदिर नव ?
देख जिसको नीड़ की सुधि फूट निकली बन मधुर रव !
झूमते चितवन गुलाबी—
—में चले घर खग हठीले !

छोड़ किस पाताल का पुर
राग से बेसुध, चपल सपने लजीले नयन में भर,
रात नभ के फूल लाई
आँसुओं से कर सजीले !

आज इन तन्द्रिल पलों में,
उलझती अलकें सुनहली असित निशि के कुन्तलों में !
सजनि नीलमरज भरे
रँग चूनरी के अरुण पीले !

रेख सी लघु तिमिर लहरी,
चरण छू तेरे हुई है सिन्धु सीमाहीन गहरी !
गीत तेरे पार जाते
बादलों की मृदु तरी ले !

कौन छायालोक की स्मृति,
कर रही रंगीन प्रिय के मृदु पदों की अंग-संसृति ?
सिहरती पलकें किये देतीं
विहँसते अधर गीले !

१९३६

(४) विदा-वेला

यह विदा-वेला !
अर्चना-सी आरती-सी यह विदा-वेला !
अमर वेला !

धूलि की लघु वीन ले,
छू तार मृदु तृण के लचीले,
चुन सभी बिखरे कथा-कण
हासभीने अश्रुगीले,
गीत मधु के, राग घन के,
युग विरह के क्षण मिलन के,
गा लिये जिसने सभी स्वर नमित भू उन्नत गगन के,
साथ जिसकी उँगलियों के स्रजन—पारावार खेला;
आज अभिनव लयवती उसकी विदा-वेला !
अमर वेला !

पंख पर आरोह के
चिर सत्य के उपहार घूमें,
पुलिन पा अवरोह के
रस-रूप-रँग के ज्वार झूमें,
शरद-स्मित-सी दूध-धोई,
अतल मधुजल में भिगोई,
आँसुओं की कुन्दवन-सी रागिनी पल भर न सोई !
कण्ठ में जिसके हुआ है हर चिरन्तन स्वर नवेला !
यह उसी की मूर्च्छना-शिञ्जित विदा-वेला !
अमर वेला !

तप, बना आकाश विस्तृत
साधना , सुख का सबेरा;
सान्ध्य-रंगों से भरा
अनुराग था सबका बसेरा !
गीत में जयघोष भी था,
हास में आलोक भी था,
शक्ति-झंझा में बसा नवनीत-हिम का लोक भी था !
बह चली करुणा-सरित ले साथ अपने तड़ित्वेला !
वीण-नन्दित शंख-वन्दित यह विदा-वेला !
अमर वेला !

धीर वट की दी न नीप—
अशोक मनविश्राम की दी,
ज्वाल में उसने हमें नित
छाँह प्रेमिल प्राण की दी !
छवि धरा की ले नयन में,
भर व्यथा के छन्द मन में,
बाँध आकुल विश्व का सन्देश सब प्रस्थान-क्षण में,
मृत्यु के चिर श्याम अंचल में चला करने उजेला !
यह उसी आलोकवाही की विदा-वेला !
अमर वेला !

वह चला जिसके पगों ने
शूल, फूल बना समेटे,
वह चला जिसके दृगों ने
सत्य कर कर स्वप्न भेंटे,
पुलक से सब क्षण बसाये,
साँस से कण-कण मिलाये,
अमर अंकुर साध के चिर प्यास के मरु में उगाये,
अंक जिसके रह गये बन दीपकों का एक मेला !
आज दीपावलि हुई उसकी विदा-वेला !
अमर वेला !

जो क्षितिज के पार पहुँचे
ओ विहग वह लय मिलाओ,
भर दिशायें शून्य छलका कर
सुमन साँसें लुटाओ, !
दीन अब चातक न बोले,
वात घायल-सी न डोले,
बढ़ अलक्षित तीर छू ले धीर सागर आज हौले !
अब चला गायक धरा का हँस अमरपथ में अकेला !
ध्वनित अन्तिम चाप से उसकी विदा-वेला !
अमर वेला !

सौंप दी वह वीण उसने
रिक्त कर ली आज झोली,
सब लुटाकर सिद्धियाँ
पुलकित करों से नाव खोली !
मत कहो निस्पन्द तम है,
वह अमर तट चिर अगम है,
प्राण में संकल्प उसकी भृकुटियों पर दीप्त श्रम है !
बन्धनों की चाह से वह मुक्ति-पथ में भी ढुकेला !
अजर वरदानी अतिथि की यह विदा-वेला !
अमर वेला !

जग उठे मधुमास बन
पतझार सब जिसके सहारे,
आज क्या प्रतिदान में
देंगे उसे दो बूँद खारे ?
कलश जीवन स्नेह जल हो,
हर नयन शतदल कमल हो,
'पंथ शुभ' निश्वास औ' साँसें कहें 'चिर मिलन पल हो' !
भेंट में उसको, हृदय विश्वास का संसार दे ला !
स्वर्ग-भू की सन्धि-सी है यह विदा-वेला !
अमर वेला !

स्वर-निमन्त्रित हम चले,
कब सुन कथा का शेष पाया !
चाप से आहूत
पहचाने न, पथ का अन्त आया !
स्वस्ति जीवन के पुजारी !
स्वस्ति सत्चित् - पंथचारी,
स्वस्ति प्रतिध्वनि बन गई जो आज उर-कम्पन हमारी !
स्वस्ति यह सुधि पा जिसे हमने विरह का भार झेला !
यह तुम्हारे हास से रञ्जित विदा-वेला !
यह हमारे अश्रु से सिञ्चित विदा-वेला !
अमर वेला !

१९४१

❀ ❀ ❀

श्री उदयशंकर भट्ट

(१) जरा

चुप, चुप देखो, कौन उचक कर झाँक रही इस ओर,
ढीली करती है जीवन की वीणा मीड़ मरोर।
जीवनान्त रवि-सी अति फीकी सूखी हँसी समेट,
कालरात्रि को चली समर्पित करने सन्ध्या भेंट।।

किस आशा में बढ़ी आ रही, खुला देखकर द्वार,
अरी भाग, हा तूने तोड़े मनसूबों के हार।
है अशक्त पर शक्ति हृदय की सभी कुचलकर आज,
सजे हुए आशामंदिर के फोड़े गायन-साज।।

शोभा के रस में तू ने विष घोला निः शंक,
अमृत निर्झरिणी में आया कौन दिशा से पंक।
देख न सकी कली का खिलना, फूलों का मृदुहास,
सुख समीर का अस्थिर चुम्बन हन्त, अनन्त विलास।।

यौवन की गुदगुदियों में तू झाँकी उझक अकान्त,
हृदय बेसुधी में जब सोता था यह यौवन शान्त।
मैंने देखी मृदु कोपल में जब चंचल मुसकान,
तब भी डाहभरी आँखों से तू दीखी अनजान।।

देखा प्रात-चंद्र का सूखी हँसकर हँसी प्रयाण,
कुमुदों ने मुरझा, पतझड़ ने मर्मर किया महान।
तरु ने झुक, नीरस बन नद ने विदा किया मदमान,
किसका पूर्व रूप बन आई जर्जर घर के प्राण।।

जरे, तुझे क्यों जरा न आती गाती किसका गान,
किधर लिये जाती है जग को किसकी सूक्ष्म उड़ान।
तू कुरूपिणी है घुस आई क्यों सुख के प्रासाद ?
देख तुझे भागा यह यौवन लिये हृदय की साध।।

१९३३

(२) जीवंत हिमगिरि

हृदय है कि है यह अबुझ आग का घर, तुम्हारे विरह में जला जा रहा है !

सही कह रहा हूँ, हुआ भार जीवन——
भले ही दिवस के, निशा के प्रहर हों;
चरण हों थके, दृष्टि के पंथ धुँधले
भले ही कुशा-कंटकों की डगर हो।
सदा जल रहा प्यास में यह तुम्हारी,
सदा आस में आत्म-विश्वास जलता,
सुनो, रूप के पुष्प किंजल्क को छू——
निशा में उबलता, दिवस में मचलता।
पवन की नदी में, सुरभि की लहर पर——
थिरकती तुम्हारी नयी मूर्ति पाने
चला जा रहा है, उड़ा जा रहा है।
कहाँ तुम मिलोगे——कहाँ तुम——न जाने !
कुसुम की हँसी क्या तुम्हारी हँसी है ?
यही खोजते दिन ढला जा रहा है ?
हृदय है कि है यह अबुझ आग का घर,
तुम्हारे बिरह में जला जा रहा है।

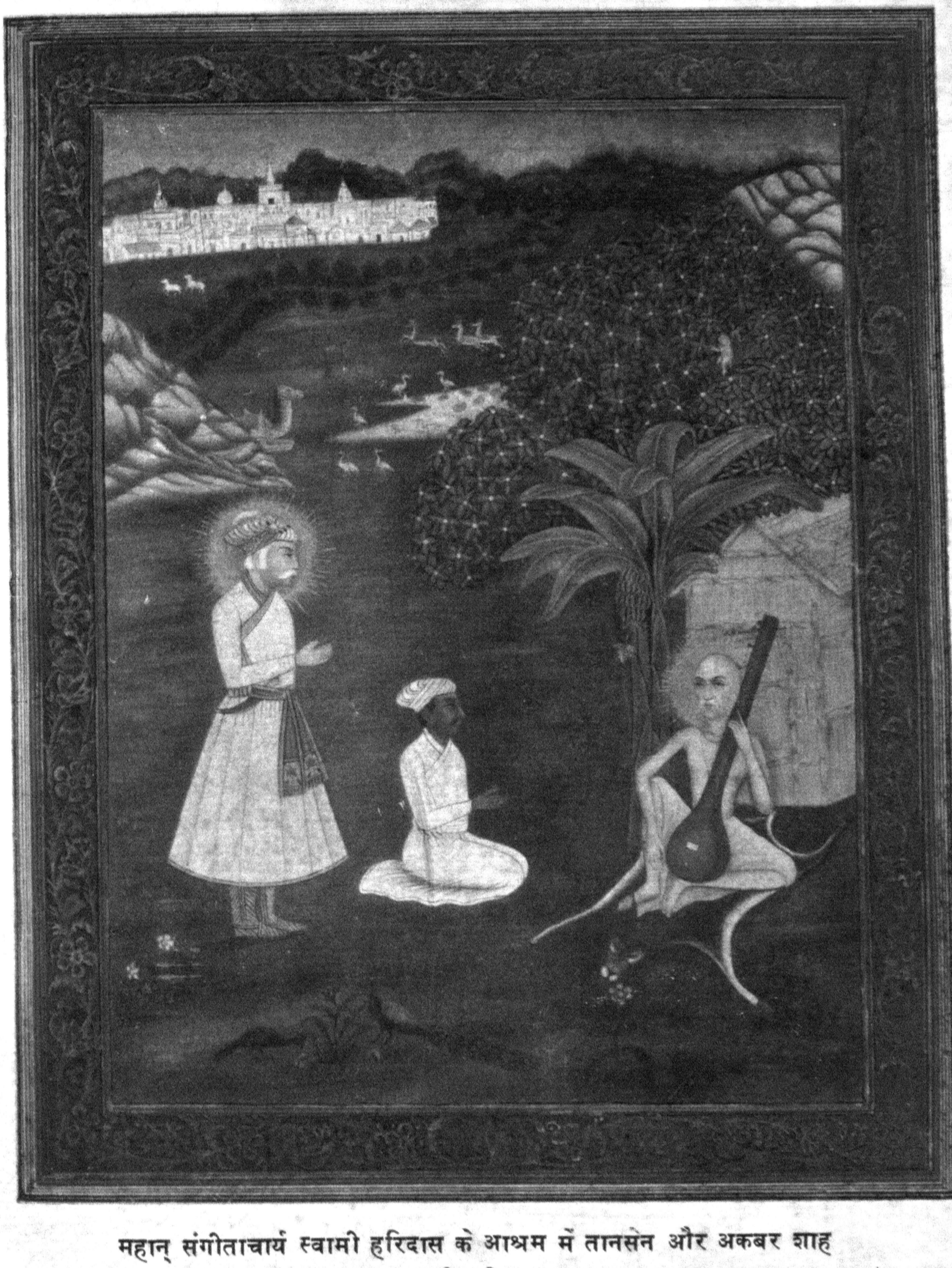
प्रलय की घटा में तुम्हीं हो गरजते
उदधि की लहर में लरजते तुम्हीं हो।
तुम्हीं वेणु में स्वर, महानंद निर्झर,
समुन्मादिनी चाँदनी में तुम्हीं हो।
मगर क्या तुम्हीं बेबसी हो मनुज की ?
बदल रूप बैठे तिमिर की घटा में,——
प्रलय के बमों में, मरण उद्गमों में,
मरण अट्टहासी विनाशी घटा में ?

मरण के चरण ताल उत्ताल कंपी——
हरण कर रहे शान्ति सीता तुम्हारी।
सुरा भी तुम्हीं क्या अमिट लालसा की
जिसे पी समुन्मत्त है सृष्टि सारी ?
महारुद्र की अट्ट हुंकार सुनकर,
सृजन का विधाता छला जा रहा है।
हृदय है कि है यह अबुझ आग का घर,
जला जा रहा है, जला जा रहा है।

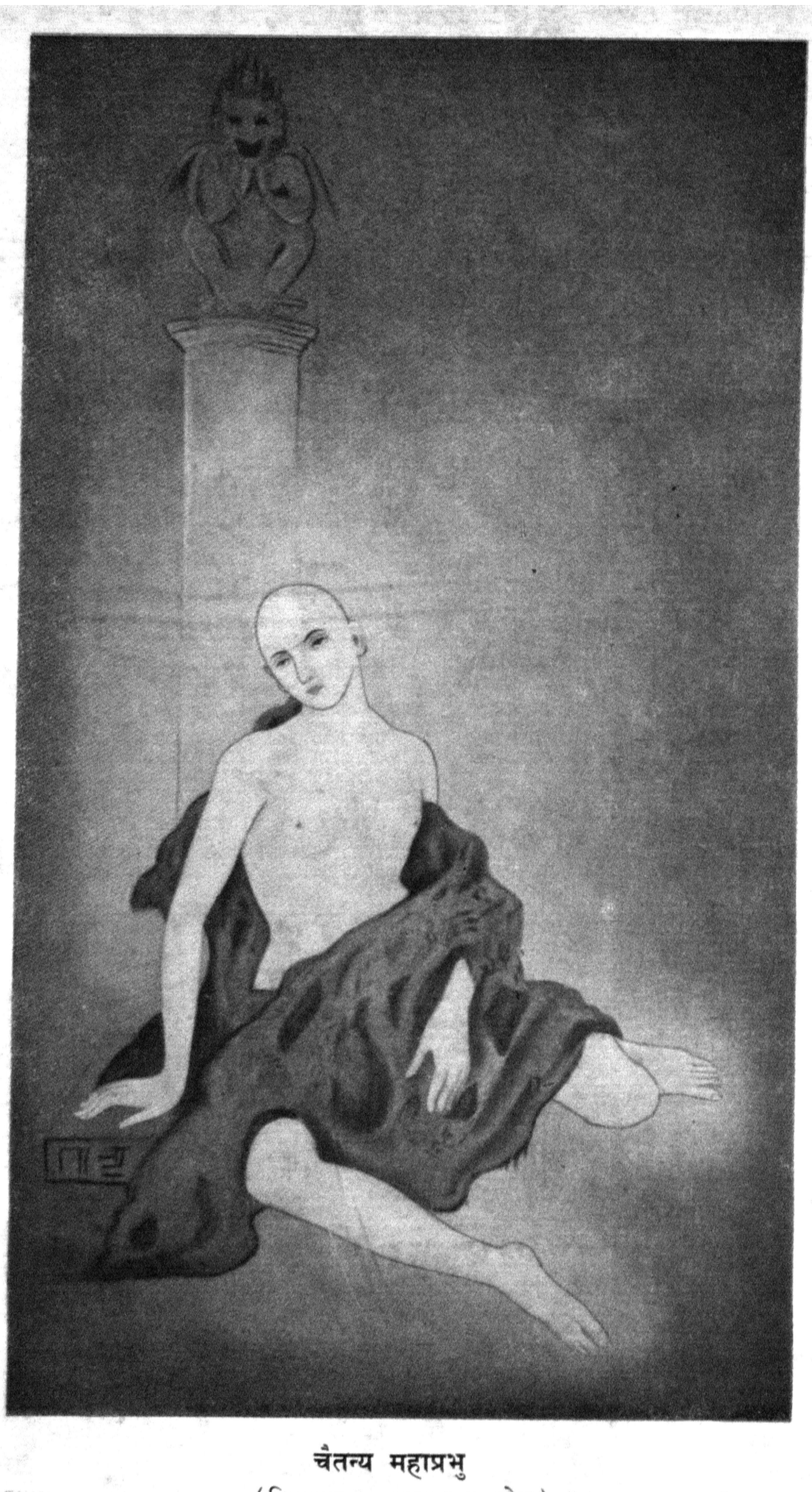
प्रलय के कफन की सफेदी तुम्हीं क्या ?
तुम्हीं मौन निश्चेष्टता लाश की हो ?
तुम्हीं भूख में छटपटाते हृदय के——
मरण-बाहु में रुद्ध उच्छ्वास भी हो ?
कहो, तुम कहाँ हो ? तुम्हें ढूँढ़ता हूँ,
तुम्हें जानना चाहता, हँस रहे हो ?
हवा में जहर की लहर उठ रही है,
मरण-मींड़ वीणा तुम्हीं कस रहे हो ?
तुम्हें स्वर्ग भी आज भाता नहीं क्या ?
कि हम जी सकें——यह सुहाता नहीं क्या ?
करो जो रुचे औ गिराओ सभी बम
अरे, फिर गया टूट नाता नहीं क्या ?
सुनो कह रहा हूँ कि जीवंत-हिमगिरि
गला जा रहा है गला जा रहा है
हृदय है कि है यह अबुझ आग का घर,
जला जा रहा है, जला जा रहा है।

१९५५

❀ ❀ ❀



महान् संगीताचार्य स्वामी हरिदास के आश्रम में तानसेन और अकबर शाह
(प्राचीन चित्र)



चैतन्य महाप्रभु

(चित्रकार – नन्दलाल बोस) [१९१३

श्री आरसीप्रसाद सिंह

शतदल

प्रमुदित कर पद्मों के प्राण,
करता कलियों को मधु-दान,
चढ़ विहगों की स्वर-लहरी पर
आता है जब स्वर्ण-विहान,
मैं कह उठता हूँ मन ही मन
यह तो तेरी ही मुसकान !

भाँति-भाँति के धर वर वेश,
अनुरंजित कर गगन-प्रदेश,
लहराते जब काले काले
बादल-दल निर्बाध, अशेष,
मैं कह उठता हूँ मन ही मन
यह तो तेरे ही घन केश !

शीतल, कोमल किरणों का वन;
खोल अमरपुर का वातायन,
उझक झाँकता है जब हिमकर
पुलकित कर वसुधा के तन-मन,
मैं कह उठता हूँ मन ही मन
यह तो तेरा ही आनन !

उतर हिमालय से विस्फीत,
शैल-शिलाओं पर श्री-पीत,
गुंजित करती तानों से जब
निर्झरिणी वन-प्रान्त पुनीत;
मैं कह उठता हूँ मन ही मन
यह तो तेरे ही संगीत !

चूम शून्य के अधर -प्रवाल,
ताल ताल पर हो बेहाल,
नर्तन करती रत्नाकर की
तरल तरंगावलि उत्ताल;
मैं कह उठता हूँ मन ही मन
यह तेरा ही हृदय विशाल ! ! !

१९३३

❀ ❀ ❀

श्रीयुत हरवंश राय बी० ए० 'बच्चन'

(१) मधुशाला

(१)

भावुकता,अंगूरलता से खींच कल्पना की हाला,
कवि बनकर है साकी आया भरकर कविता का प्याला।
कभी न कण-भर खाली होगा लाख पियें, दो लाख पियें,
पाठक-गण हैं पीनेवाले पुस्तक मेरी मधुशाला ।।

(२)

मुसलमान औ' हिन्दू हैं दो एक मगर उनका प्याला,
एक मगर उनका मदिरालय, एक मगर उनकी हाला।
दोनों रहते एक न जब तक मन्दिर-मस्जिद में जाते,
बैर बढ़ाते मन्दिर-मस्जिद मेल कराती मधुशाला ।।

(३)

कभी नहीं सुन पड़ता, 'उसने हा, छू दी मेरी हाला'
कभी न कोई कहता 'मेरा हाय, छुआ इसने प्याला'
भूसुर, भंगी, सभी यहाँ पर साथ बैठकर पीते हैं,
सौ सुधारकों का करती है काम अकेली मधुशाला ।।

(४)

मेरे शव पर वह रोये, हो जिसके आँसू में हाला,
आह भरे वह, जो हो सुरभित मदिरा पीकर मतवाला ।
दें मुझको वे कन्धा, जिनके पद, मग-डगमग होते हों,
और जलूँ उस ठौर, जहाँ पर कभी रही हो मधुशाला ।।

(५)

ज्ञात हुआ, यम आने को है ले अपनी काली हाला,
पंडित अपनी पोथी भूला साधू भूल गया माला ।
और पुजारी भूला पूजा ज्ञान सभी ज्ञानी भूला,
किन्तु न भूला मर करके भी पीनेवाला मधुशाला ।।

(६)

बजी नफीरी और नमाजी भूल गया अल्ला ताला,
गाज गिरी पर ध्यान सुरा में मग्न रहा पीनेवाला ।
शेख बुरा मत इसको मानो साफ कहूँ तो मस्जिदको,
अभी युगों तक सिखलायेगी ध्यान लगाना मधुशाला

(७)

लाल सुरा की धार लपट-सी, कह न इसे देना ज्वाला,
फेनिल मदिरा है, मत इसको कह देना उर का छाला ।
दर्द नशा है इस मदिरा का, विगत-स्मृतियाँ साकी हैं,
पीड़ा में आनन्द जिसे हो, आये मेरी मधुशाला ।।

(८)

धर्म-ग्रन्थ सब जला चुकी है जिसके अन्तर की ज्वाला
मस्जिद-मन्दिर-गिरजे सबको तोड़ चुका जो मतवाला।
पंडित मोमिन पादरियों के फन्दों को जो काट चुका,
कर सकती है आज उसी का स्वागत मेरी मधुशाला ।

(९)

बजी न मन्दिर में घड़ियाली चढ़ी न प्रतिमा पर माला
बैठा अपने भवन मुअज्जिन देकर मस्जिद में ताला ।
लुटे खजाने नर-पतियों के गिरीं गढ़ों की दीवारें,
रहें मुबारक पीनेवाले खुली रहे यह मधुशाला ।।

(१०)

हो जायें सुनसान महल वे जहाँ थिरकती सुरबाला,
बड़े-बड़े परिवार मिटें यों एक न हो रोनेवाला ।
राज्य उलट जायें, भूपों की भाग्य-सुलक्ष्मी सो जाये,
जमे रहेंगे पीनेवाले जगा करेगी मधुशाला ।।

१९३३

(२) पग-ध्वनि

वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

नंदन-वन में उगने वाली,
मेंहदी, जिन तलवों की लाली,
बनकर भू पर आई आली !
    मैं उन तलवों से चिर-परिचित,
    मैं उन तलवों का चिर-ज्ञानी ।
        वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

ऊषा ले अपनी अरुणाई,
ले कर-किरणों की चतुराई,—
जिनमें जावक रचने आई,
    मैं उन चरणों का चिर-प्रेमी,
    मैं उन चरणों का चिर-ध्यानी ।
        वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

उन मृदु चरणों का चुंबन कर,
ऊसर भी हो उठता उर्वर,
तृण-कलि-कुसुमों से जाता भर,
    मरुथल मधुवन बन लहराते
    पाषाण पिघल होते पानी !
        वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

उन चरणों की मंजुल उँगली,
पर नख-नक्षत्रों की अवली
जीवन के पथ की ज्योति भली,
    जिस का अवलंबन कर जग ने,
    सुख-सुखमा की नगरी जानी !
        वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

उन पद-पद्मों के प्रभ रजकण,
का अंजित कर मंत्रित अंजन,
खुलते कवि के चिर-अंध नयन,
तम से आकर उर से मिलती
स्वप्नों की दुनिया की रानी!
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

उन सुन्दर चरणों का अर्चन,
करते आँसू से सिन्धु नयन
पग-रेखा में उच्छ्वास पवन,
देखा करता अंकित अपनी।
सौभाग्य सुरेखा कल्याणी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी।

उन चल चरणों की कल छम-छम,
से ही था निकला नाद प्रथम,
गति से मादक तालों का क्रम--
संगीति जिसे सारे जग ने,
अपने सुख की भाषा मानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

हो शांत जगत के कोलाहल!
रुक जा रे जीवन की हलचल!
मैं दूर पड़ा सुन लूँ दो पल,
संदेश नया जो लाई है यह,
चाल किसी की मस्तानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी।

किसके तमपूर्ण प्रहर भागे?
किसके चिर-सोये दिन जागे?
सुख-स्वर्ग हुआ किस के आगे?
होगी किसके कंपित कर से,
इन शुभ चरणों की अगवानी?
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

बढ़ता जाता घुंघरू का रव!
क्या यह भी हो सकता संभव?
यह जीवन का अनुभव अभिनव!
पदचाप शीघ्र, पग-राग तीव्र
स्वागत को उठ रे कवि मानी!
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

ध्वनि पास चली मेरे आती!
सब अंग शिथिल पुलकित छाती!
लो गिरतीं पलकें मदमाती!
पग को परिरंभण करने की,
पर इन भुज-पाशों ने ठानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

रव गूँजा भू पर, अंबर में,
सर में सरिता में, सागर में,
प्रत्येक श्वास में, प्रति स्वर में,
किस किस का आश्रय ले फैले--
मेरे हाथों की हैरानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

ये ढूंढ़ रहे ध्वनि का उद्‌गम,
मंजीर मुखरयुत पद निर्मम,
है ठौर सभी जिनकी ध्वनि सम,
इनको पाने का यत्न वृथा,
श्रम करना केवल नादानी।
यह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

ये कर नभ-जल-थल में भटके,
आकर मेरे उर पर अटके,
जो पग-द्वय थे अंदर घट के,
थे ढूंढ़ रहे उनको बाहर,
ये युग कर मेरे अज्ञानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

उर के ही मधुर अभाव चरण
बन करते स्मृति-पट पर नर्तन,
मुखरित होता रहता बन-बन,
मैं ही इन चरणों में नूपुर,
नूपुर-ध्वनि मेरी ही वाणी!

१९३५

❀ ❀ ❀

श्री उमेश

जीवन-निशा

(१)

इन्दु-सा जला के प्रेम-दीप शून्य मन्दिर में,
आई स्वीय उर में तुम्हारी मूर्ति धरके।
चारु चरणों में चारु फूलों-सा बिखेरने को,
मानस में तारक से रक्खे भाव भरके॥
तुम्हें भेंट देने के लिए ही पद-किंकरी-सी,
ओस-अश्रुओं की माल लाई गूँथ करके।
क्या न इस जीवन-निशा से मिलने को तुम,
आओगे प्रभात! स्वर्ण-रथ से उतरके॥

(२)

विरह-जनित महावेदना की प्रतिमा-सी,
तम के जटिल बन्धनों में जकड़ी हुई।
दुख-विधुरा-सी अति दीना-सी अनाथिनी-सी,
पथ की भिखारिनी-सी चिन्ता में पड़ी हुई॥
विधि-वंचिता-सी पतिता-सी दलिता-सी सदा,
द्रुपद-सुता-सी आपदाओं में अड़ी हुई।
ज्योतिरूप! देखो तो तुम्हारे द्वार पर हाय,
जीवन-निशा है यह कब से खड़ी हुई॥

१९३३

❀ ❀ ❀

रामेश्वरीदेवी गोयल एम० ए०

पागलपन

सजनि! है यह कैसा पागलपन?

नीरव आँधी शून्य गगन में
मचल मचल वह जाती।
शुष्क अधर की संचित लाली
झर झर झर झर जाती॥
न रहता है किंचित् अपनापन,
सजनि! है यह कैसा पागलपन?

नयन हठीले सो सो जाते
मधुमय के मधुवन में।
मनभावन आकर खो जाते
स्वप्नों की उलझन में॥
न खोने पाता यों सूनापन
सजनि! है यह कैसा पागलपन?

पीड़ामय तन्द्रा में भी, सखि!
याद उसी की आती।
निठुराई निर्मम के उर
चुभती, पर खोज न पाती॥
सजनि! क्या ऐसा ही है बन्धन?
सजनि! है यह कैसा पागलपन?

१९३४

❀ ❀ ❀

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

जीवन-संगीत

यह लघु-लघु रजकण का मृदु तन
रजकण-सा ही है दुर्बल,
पर, रजकण की ढेरी में ही
है स्वर्णज्योति भी निर्म्मल।

मेरा छोटा-सा जीवन रे,
चिर दुर्बल है चिर निर्म्मल,
है निशा-कालिमा इसमें तो
दिन की आभा भी उज्ज्वल।

सागर के अन्तस्तल में भी
मोती की छबि है निर्म्मल,
सागर के अन्तस्तल में ही
पंकिलता भी है दुर्बल।

दुर्बलता का निर्म्मलता से
जीवन में है सम्मिलन,
दोनों के सम्मेलन से ही
मानव - जीवन मनमोहन।

१९३४

❀ ❀

श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल, एम० ए०

सन्ध्या का संगीत

अश्रुमय सन्ध्या का मृदु हास।
उषाकाल के नव कुसुमों की, मन्द मलीन सुवास॥
प्राची की निर्मल लाली पर, सघन कालिमा छाई,
पश्चिम की अवसान-तिमिर में, चिर सुख का आभास।

यौवन के विकसित उपवन में, पवन सुवासित बहता,
आच्छादित है शान्ति जरा की, पावन नीरव त्रास।
जीवन की मधुमय वीणा का, है अति मदिर अलाप,
किन्तु मृत्यु-तन्त्री में भी गुंजित है मृदु उल्लास।

१९३४

❀ ❀ ❀

श्री रुस्तम सैटिन

आँसू

एक छोटे-से आँसू में,
सब भेद भरा जीवन का।
इस पर इतिहास लिखा है,
मेरे उजड़े उपवन का॥

सुख, दुख के क्रीड़ा-स्थल की,
यह कहता अकथ कहानी।
कुछ मुझे सुझा जाता है,
मेरी आँखों का पानी॥

आँसू के बिखरेपन में,
इस चित्रित जग की माया।
बीते दिन की बातें बन,
आती है करने छाया॥

इन आँसू की बूँदों में,
यौवन-मद वर्षा देखो।
इनके आने गिरने में,
पीड़ा की क्रीड़ा देखो॥

कुछ ढलती, गिरती बूँदें,
एक आँधी-सी ले आतीं।
वह लघु मेरी तरनी को,
कुछ अस्थिर-सा कर जातीं॥

रातें न बिताईं जिनने,
झर झर आँसू बरसाते॥
वह क्या जानें जीवन को,
जो शुष्क हृदय ले आते।

इसकी असीम सीमा में,
यौवन-सागर लहराता।
इसकी उन्मत लहरों पर,
चंचल मन आ इठलाता॥

इस करुणा के सागर में,
अपनी जर्जर नैया को।
मैं आज डुबाने आया,
अपनी माया थाती को॥

१९३४

❀ ❀ ❀

कुँवर सोमेश्वरसिंह बी० ए०

दीवाना

तेरी जब मंजुल स्मृतियाँ
करतीं उर-तल में क्रीड़ा।
ले उठती अँगड़ाई-सी,
मेरे जीवन की पीड़ा।

भर जाता है फिर से उर,
तेरी मृदु मुसकानों से।
रो उठती है अभिलाषा,
मेरे विह्वल प्राणों से॥

मंजुल मराल-सी सुखकर,
मृदु मंद मंद मतवाली।
हैं बार बार सुध आती,
तेरी वह चाल निराली।

छा जाता है नयनों में
तेरी सुषमा का उपवन।
है चीर हृदय को जाती,
तेरी मनोज्ञ चल चितवन॥

हो जाता है फिर सहसा,
अतिशय अधीर मेरा मन।
है तड़फ तड़फ रह जाता,
उन्माद भरा नव जीवन।

हो उठता है प्राणों में,
मधुमय स्वप्नों का गुंजन।
है मुझे डुबा देता फिर,
मेरा सुखमय पागलपन॥

रह गये न अपने अपने,
बन गया विश्व बेगाना।
मेरे मंजुल भावों पर,
जग हँसता है मनमाना।

मैंने न कभी यह सोचा,
मैंने न कभी यह जाना।
आना तेरी दुनिया में,
है इस दुनिया से जाना॥

दे दिया तुझे क्या मैंने,
कोई अनमोल खजाना।
इस एक हृदय-अर्पण पर,
जग कहता है दीवाना।

यदि मुझे असंख्य हृदय भी,
उपलब्ध कहीं से होते।
तो एक एक कर सारे,
अर्पित चरणों पर होते ॥

१९३४

❀ ❀ ❀

श्रीयुत सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(१) गीत

सकल गुणों की खान, प्राण, तुम।
सुख की सृति दुख की व्याकुल कृति,
जग-तम की धृति, ज्ञान, ध्यान तुम।

बंक भौंह शंकित दृग, नव मुख,
मिला रही निज उर अग-जग दुख,
पी ली ज्वाल, बदल नीली, रुख
विभा, प्रभा की खान, आन तुम।

सोई घेर गगन का मन-फन
कुण्डली-लगन-लीन विश्व-जन,
देखी मणि, जागे, परिवर्तन,
गया सकल अज्ञान, यान तुम।

कमलासन पर बैठ प्रभा-तन
वीणा-कर करती स्वर साधन,
कोमल घात गुँजा मृदु गुंजन--
भरती शत-शत गान-तान तुम।

१९३४

(२) गीत

(१)

निशिदिन तन धूलि में मलिन,
क्षीण हुआ मन छन छन, छिन छिन।
ज्योति में न लगती रे रेणु;
श्रुति-कटु स्वर नहीं वहाँ,
वह अछिद्र वेणु;
चाहता, बनूँ उस पग-पायल की रिन रिन।
व्यर्थ हुआ जीवन यह भार;
देखा संसार, वस्तु
वस्तुतः असार;
भ्रम में जो दिया, ज्ञान में लो तुम गिन गिन।

(२)

धन, गर्जन से भर दो वन,
तरु तरु पादप-पादप तन।

अब तक गुंजन गुंजन पर
नाचीं कलियाँ, छबि निर्भर;
भौरों ने मधु पी पीकर
माना स्थिर मधु-ऋतु कानन।

गरजो हे मन्द्र, वज्र-स्वर,
थर्राये भूधर-भूधर,
झरझर-झरझर धारा झर
पल्लव-पल्लव पर जीवन।

दुर्दम वर्षा-वर्षण पर
जीवित हो हर्ष वर्ष भर,
जन-जन को कोमल-तन कर
दो हे विप्लव के प्लावन !

१९३५

(३) सम्राट् एडवर्ड अष्टम के प्रति

वीक्षण अराल :—
बज रहे जहाँ
जीवन का स्वर भर छन्द, ताल
मौन में मन्द्र,
ये दीपक जिसके सूर्य-चन्द्र,
बँध रहा जहाँ दिग्देशकाल,
सम्राट्! उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियंगु की डाल डाल!

विंशति शताब्दि,
धन के, मान के बाँध को जर्जर कर महाब्धि
ज्ञान का, बहा जो भर गर्जन—
साहित्यिक स्वर—
"जो करे गन्ध-मधु का वर्जन
वह नहीं भ्रमर;
मानव मानव से नहीं भिन्न,
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न;
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर"
था सुना, रहे, सम्राट्! अमर—
मानव के वर!

वैभव विशाल,
साम्राज्य सप्त-सागर-तरंग-दल दत्त-माल,
है सूर्य क्षत्र
मस्तक पर सदा विराजित
ले कर-आतपत्र,
विच्छुरित छटा—
जल, स्थल, नभ में
विजयिनी वाहिनी—विपुल घटा,
क्षण क्षण भर पर
बदलती इन्द्रधनु इस दिशि से
उस दिशि सत्वर,
वह महासद्म
लक्ष्मी का शत-मणि-लाल-जटित
ज्यों रक्त पद्म,
बैठे उस पर
नरेन्द्र-वन्दित, ज्यों देवेश्वर।

पर रह न सके,
हे मुक्त,
बन्ध का सुखद भार भी सह न सके।

उर की पुकार
जो नव संस्कृति की सुनी
विशद, मार्जित, उदार,
था मिला दिया उससे पहले ही
अपना उर,
इसलिए खिंचे फिर नहीं कभी,
पाया निज पुर

जन-जन के जीवन में सहास,
है नहीं जहाँ वैशिष्ट्य-धर्म का
भ्रू-विलास—
भेदों का क्रम,
मानव हो जहाँ पड़ा—
चढ़ जहाँ बड़ा सम्भ्रम।
सिंहासन तज उतरे भू पर,
सम्राट्! दिखाया
सत्य कौन-सा वह सुन्दर।

जो प्रिया, प्रिया वह
रही सदा ही अनामिका,
तुम नहीं मिले,—
तुमसे हैं मिले आज नव
योरप-अमेरिका।

सौरभ प्रमुक्त!
प्रेयसी के हृदय से हो
तुम प्रतिदेशयुक्त,

प्रतिजन प्रतिमन,
आलिंगित तुमसे हुई
सम्यता यह नूतन!

१९३७

(४) वृद्ध हूँ मैं

जय तुम्हारी देख भी ली
रूप की, गुण की, रसीली।

वृद्ध हूँ मैं, ऋद्धि की क्या,
साधना की, सिद्धि की क्या,

खिल चुका है फूल मेरा
पंखड़ियाँ हो चलीं ढीली।

चढ़ी थी जो आँख मेरी,
बज रही थी जहाँ भेरी,

वहाँ सिकुड़न पड़ चुकी है,
जीर्ण है वह आज तीली।

आग सारी फुक चुकी है,
रागिनी वह रुक चुकी है,

स्मरण में है आज जीवन,
मृत्यु की है रेख नीली।

१९५८

(५) वर्षा के दो गीत

१

बरसो मेरे आँगन, बादल;
जल-जल से भर दो सर, उत्पल।

करो विकम्पित अवनी का उर,
भरो आम्र-पल्लव में नव सुर,
रँगो अधर तरुणी के आतुर,
सींचो युवकजनों के हृत्तल।

नई शक्ति, अनुरक्ति जगा दो,
विगत भाव से भक्ति भगा दो,
उत्पादन के मार्ग लगा दो
साहित्यिक-वैज्ञानिक के बल।

लहरें सत्य धर्म निष्ठा की
जगें न कुछ रह जाय व्यथा की,
कल के बोझिल, हल्के; बाकी
रहे न कुछ जीवन का संबल।

२

फिर बेले की कलियाँ आईं।
डालों की अलियाँ मुसकाईं।

सींचे बिना रहे जो जीते,
स्फीत हुए सहसा रस पीते,
नस-नस दौड़ गई हैं खुशियाँ
नैहर की ललियाँ लहराई

सावन, कजली, बारहमासे,
उड़ उड़ कर पूर्वा में भासे,
प्राणों के पलटे हैं पासे,
पात-पात की साँसें छाईं।

आमों की सुगन्ध से खिचकर
वैदेशिक जन आए हैं घर;
बन्दनवार बँधे हैं सुन्दर
सरिताएँ उमड़ीं, उतराईं।

१९५८

❀ ❀ ❀

डा० रामविलास शर्मा

गीत

मंजरित डाल रसाल की।
सखि, धृत-सुछवि मधु-गन्ध-आकुल
गुंजरित अलि-माल की।

रँगता अरुण-रँग तरुण-रवि
मुकुलित नवल-कलि-दल मृदुल,
छाई चतुर्दिक भुवन-वन
उपवन-गगन में श्री अतुल
घन-किरण-सुवरण-जाल की।

चिर-पीत-कुसुमासव-अनिल-चल
विकंपित-शस्यांबरा,
करती तपन-कर-स्पर्श-क्रीड़ा–
चारु अवगुंठित धरा
प्रिय-रूप-द्युति निज भाल की।

बैठी किसलयित विटप शाखा
पर, विजन में साध स्वर,
गा रही पिक, किस हृदय में
आज यों अनुराग भर,
नव रागिनी मधुकाल की?

१९३५

❀ ❀ ❀

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

(१) भ्रमरी

पी मेरी भ्रमरी, वसन्त में अन्तर-मधु जी भर पी ले,
कुछ तो कवि की व्यथा सफल हो, जलूँ निरन्तर, तू जी ले।
चूस चूस मकरन्द हृदय का संगिनि! तू मधु-चक्र सजा,
और किसे इतिहास कहेंगे ये लोचन गीले गीले!

अर्पण किया चरण पर तेरे माँग माँग जो कुछ लाया,
फूल मिले तो हार बनाया, चोट लगी, छाले छीले।
लते! कहूँ क्या सूखी डालों पर क्यों कोयल बोल रही!
बतलाऊँ क्या ओस यहाँ क्यों? क्यों मेरे पल्लव पीले?

पूछ न प्रिये, अर्थ आँसू के, जिसने 'अदन बाग' छीना,
बन निशीथ का पवन सिसकता फिरता याद उसी को ले।
किसे कहूँ, धर धीर सुनेगा दीवाने की कौन व्यथा?
मेरी कड़ियाँ कसी हुईं, बाकी सबके बन्धन ढीले।

मुझे रखा अज्ञेय अभी तक विश्व मुझे अज्ञेय रहा,
सिन्धु यहाँ गम्भीर, अगम सखि! पन्थ यहाँ ऊँचे-टीले।
पी मेरी भ्रमरी, वसन्त में अन्तर-मधु जी भर पी ले,
कुछ तो कवि की व्यथा सफल हो, जलूँ निरन्तर, तू जी ले।

१९३५

(२) अगेय की ओर

गायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वन का श्रोता मन!

सुनना श्रवण चाहते अब तक
भेद हृदय जो जान चुका है,
बुद्धि खोजती उन्हें जिन्हें
जीवन निज को कर दान चुका है।

खो जाने को प्राण विकल हैं
चढ़ उन पद-पद्मों के ऊपर––
बाहु-पाश से दूर जिन्हें
विश्वास हृदय का मान चुका है।

जोह रहे उनका पथ दृग जिनको पहचान गया है चिन्तन,
गायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वन का श्रोता मन!

उछल उछल बह रहा अगम की
ओर अभय इन प्राणों का जल,
जन्म-मरण की युगल घाटियाँ
रोक रहीं जिसका पथ निष्फल,
मैं जल-नाद श्रवण कर चुप हूँ,
सोच रहा यह खड़ा पुलिन पर––
"है कुछ अर्थ, लक्ष्य इस रव का?
या कुल-कुल कल-कल ध्वनि केवल?"
दृश्य अदृश्य कौन सत् इनमें मैं या प्राण-प्रवाह चिरंतन?
गायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय स्वन का श्रोता मन!

जलकर चीख उठा वह कवि था,
साधक जो नीरव तपने में।
गाये गीत खोल मुँह क्या वह
जो खो रहा स्वयं सपने में?
सुषमायें जो खेल रही हैं
जल-थल में, गिरि-गगन-पवन में,
नयन मूँद अन्तर्मुख-जीवन
खोज रहा उनकी अपने में।
अन्तर-बहिर एक छवि देखी, आकृति कौन? कौन है दर्पण?
गायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय स्वन का श्रोता मन!

चाह यही छू लूँ स्वप्नों की––
नग्न-कान्ति बढ़कर निज कर से,
इच्छा है आवरण स्रस्त हो
गिरे दूर अन्तःश्रुति पर से।
पहुँच अगेय-गेय संगम पर
सुनूँ मधुर वह राग निरामय
फूट रहा जो सत्य, सनातन
कविर्मनीषी के स्तर-स्तर से।
गीत बनी जिनकी झाँकी अब दृग में उन स्वप्नों का अंजन।
गायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय स्वन का श्रोता मन!

१९३७

❀ ❀ ❀

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

खिलौने

तेरे ही तो दिये हुए हैं, माँ, ये सकल खिलौने सुंदर।
दिल बहलाता रहता हूँ मैं जिनके साथ खेल जीवन भर॥
उनमें तन्मय देख मुझे तुम क्यों होती व्याकुल बेकार।
नहीं तुम्हारी स्मृति पर पर्दा डाल सकेगा इनका प्यार॥
जिस क्षण मुझे पुकारोगी तुम, फेंक खिलौने सारे पथ पर।
पास तुम्हारे आ जाऊँगा, बैठ मरण के विद्युत-रथ पर॥

१९३५

❀ ❀ ❀

श्री हरिश्चन्द्र देव वर्मा 'चातक'

सरिता

एकान्त शान्त में संचय कर,
यह स्नेह-धार अतिशय मनहर।
अब चली बाँटने ग्राम नगर,
सरिते! किससे प्रेरित होकर?

प्रियतम का ध्यान हृदय में धर,
काल्पनिक मिलन भावों से भर।
हो उठा रही लहरों के कर,
सरिते! तुम हो कितनी सुन्दर?

लहरों की खींच खींच रेखा,
या लगा रही हो यह लेखा।
"देखें कब मिलते हैं प्यारे,
जीवन-धन, नयनों के तारे"?

दिन स्वर्ण लुटाता है आकर,
चाँदी बरसाती निशि लाकर।
पर तुम्हें न इनसे काम सखी,
प्रियतम बिन कब आराम सखी।

गिरि की गृह गलियाँ छोड़ चुकीं,
बाधा-बंधन सब तोड़ चुकीं।
अब जा अगाध से मिलो प्रिये!
हाथों में फेनिल-फूल लिये!!

मैं भी तुम-सा ही मिलनातुर,
चल पड़ूँ लगूँ प्रियतम के उर।
फिर मेरापन सब बह जाये,
प्रियतम ही प्रियतम रह जाये।

१९३५

❀ ❀ ❀

श्रीमती तारा पांडेय

(१) गीत

मैं प्रिय दर्शन की दीवानी!——
× × ×
मिथ्या सुख-दुख में रही झूल
अपने प्रभु को भी गई भूल
अलि, कैसे मैं यह भेद कहूँ——
वह है उदार, पर अभिमानी! ॥१॥

उसकी सुधि-छाई कण-कण में,
मोहक स्पर्श है तन-मन में,
पल पल जाती है प्यास बढ़ी——
सखि, वह करता निज मनमानी! ॥२॥

जिसको कहते हैं निराकार——
योगी-जन का जो है अंधकार——
री! वह असीम मेरा प्रियतम
है शून्य नहीं——सरबस दानी! ॥३॥

सुनकर आत्मा की मृदु-पुकार
दुखियों की करुणामय गुहार——
रक्षाहित वह द्रुत है आता——
कैसे कह दूँ उसको मानी!
मैं प्रिय दर्शन की दीवानी! ॥४॥

१९३६

(२) गीत

मेरा मन उन्मन रहता क्यों?
प्रिय को उर में धारण कर फिर——
सूनापन अनुभव करता क्यों?
मेरा मन उन्मन रहता क्यों?

झिलमिल से तारक-दीपों में
जब उलझे हों प्राण व्यथा से——
आँसू के छोटे जीवन सी——
प्रिय तेरी यह आकुलता क्यों?

जग की निर्मल ज्वालाओं से
छार छार है मेरा जीवन——
औरों के दुख को लेकर अब
यह भीषण क्रन्दन करता क्यों?

मिथ्या है व्यवहार जगत का
सत्य एक आधार बना अब——
इन्द्र-धनुष के रंगों सी यह——
क्षण भर की झूठी ममता क्यों।